पाठ–पुनर्पाठ

लॉ क डा उ न

25 वाँ दिन

राजकमल प्रकाशन समूह

प्रकाशकीय

कोरोना का संकट अब वैश्विक बदलाव का नया प्रस्थान बिंदु बन चुका है। इसका असर मानव जीवन पर कई रूपों में पड़ने वाला है। कुछ संकेत अब स्पष्ट रूप से दिखने लगे हैं। यह हमारी पढ़ने-लिखने की आदतों पर भी अपनी छाप छोड़ेगा, ऐसा लग रहा है। अभी आप चाहते हुए भी अपनी मनचाही किताब खरीद नहीं सकते, हम आपकी कोई मदद कर नहीं सकते। जितनी ई-बुक या ऑडियो बुक ऑनलाइन प्लेटफॉर्म पर मौजूद हैं, उनमें से ही चयन करना, पढ़ना और सुनना एक विकल्प है। दूसरा विकल्प है, घर में उपलब्ध पढ़ी-अनपढ़ी किताबों को इस लॉक डाउन की अवधि में पढ़ जाना। हमसे कई साहित्य-अनुरागियों ने अपने ऐसे अनुभव साझा किए हैं कि उन्हें आजकल कई भूली-बिसरी रचनाएँ याद आ रही हैं। उन्हें पढ़ने का मन हो रहा है। कुछ को नई किताबों के बारे में भी जानने की उत्सुकता है, जिनके बारे में चर्चा सुन रखी है। हमने इन सब स्थितियों के मद्देनज़र 3 मई 2020 तक प्रतिदिन आप सबको एक पुस्तिका उपलब्ध कराने का संकल्प किया है। व्हाट्सएप्प पर नि:शुल्क।

22 मार्च 2020 से हमने फेसबुक लाइव के जरिये अपने व्यापक साहित्यप्रेमी समाज से लेखकों के संवाद का एक सिलसिला बना रखा है। जब से सोशल डिस्टेंसिंग यानी संग-रोध का दूसरा दौर शुरू हुआ है, तब से हम अपनी जिम्मेदारी और बढ़ी हुई महसूस कर रहे हैं।

सभी के लिए मानसिक खुराक उपलब्ध रहे, यह अपना सामाजिक दायित्व मानते हुए अब हम 'पाठ-पुनर्पाठ' पुस्तिकाओं की यह श्रृंखला शुरू कर रहे हैं। ईबुक और ऑडियोबुक डाउनलोड करने की सुविधा सबके लिए सुगम नहीं है। इसलिए हम अब व्हाट्सएप्प पर सबके लिए नि:शुल्क रचनाएँ नियमित उपलब्ध कराने जा रहे हैं। इन्हें प्राप्त करने के लिए आप राजकमल प्रकाशन समूह का यह व्हाट्सएप्प नम्बर 98108 02875 अपने फोन में सुरक्षित करें और उसके बाद उसी नम्बर पर अपना नाम लिखकर हमें मैसेज करें। आपको नियमित नि:शुल्क पुस्तिका मिलने लगेगी। हम समझते हैं कि यह असुविधाकारी नहीं है। आप जब चाहें, पावती सेवा बंद करवा सकते हैं। जब चाहें, पुन: शुरू करा सकते हैं। जब तक लॉक डाउन है, आप घर में हैं लेकिन अकेले नहीं हैं। राजकमल प्रकाशन समूह आपके साथ है। भरोसा रखें।

साथ जुड़ें, साथ पढ़ें...

क्रम

पहलवान की ढोलक

कहानी

फणीश्वरनाथ रेणु

5

जिन्दगी और जोंक

कहानी

अमरकान्त

17

इति

कहानी

गीतांजलि श्री

47

कामायनी : निर्वेद सर्ग

महाकाव्य

जयशंकर प्रसाद

66

पहलवान की ढोलक

*

फणीश्वरनाथ रेणु

जाड़े का दिन। अमावस्या की रात—ठंडी और काली। मलेरिया और हैजे से पीड़ित गाँव भयार्त्त शिशु की तरह थर-थर काँप रहा था। पुरानी और उजड़ी बाँस-फूस की झोंपड़ियों में अन्धकार और सन्नाटे का सम्मिलित साम्राज्य! अँधेरा और निस्तब्धता।

अँधेरी रात चुपचाप आँसू बहा रही थी! निस्तब्धता करुण-सिसकियों और आहों को बलपूर्वक अपने हृदय में ही दबाने की चेष्टा कर रही थी। आकाश से टूटकर यदि कोई भावुक तारा पृथ्वी पर जाना भी चाहता तो उसकी ज्योति और शक्ति रास्ते में ही शेष हो जाती थी, अन्य तारे उसकी भावुकता अथवा असफलता पर खिलखिलाकर हँस पड़ते थे। सियारों का क्रन्दन और पेचक की डरावनी आवाज कभी-कभी निस्तब्धता को अवश्य भंग कर देती थी। गाँव की झोंपड़ी से कराहने और कै करने की आवाज, 'हरे राम! हे भगवान!' की टेर अवश्य सुनाई पड़ती थी। बच्चे भी कभी-कभी निर्बल कंठों से माँ-माँ पुकारकर रो पड़ते थे, पर इससे रात्रि की निस्तब्धता में विशेष बाधा नहीं पड़ती थी। कुत्तों में परिस्थितियों को ताड़ने की एक विशेष बुद्धि होती है।

वे दिन-भर राख के घूरों पर गठरी की तरह सिकुड़कर मन मारकर पड़े रहते थे। सन्ध्या या गम्भीर रात्रि को सब मिलकर रोते थे। रात्रि अपनी भीषणताओं के साथ चलती रहती और उसकी सारी भीषणता को, ताल ठोककर, ललकारती रहती थी—सिर्फ पहलवान की ढोलक। सन्ध्या से लेकर प्रातः तक एक ही गति से बजती रहती—'चट्-धा, गिड़-धा, चट्-धा, गिड़-धा' अर्थात्—'आजा भिड़जा!!' बीच-बीच में 'चटाक्-चट्-धा चटाक्-चट्-धा' यानी—उठाकर पटक दे!!...यही आवाज संजीवनी शक्ति भरती रहती थी।

लुट्टन सिंह पहलवान!

यों तो वह कहा करता था—''लुट्टन सिंह पहलवान को 'होल-इंडिया' भर के लोग जानते हैं,'' किन्तु उसके 'होल-इंडिया' की सीमा शायद एक जिले की सीमा के बराबर ही हो। जिले-भर के लोग उसके नाम से अवश्य परिचित थे।

लुट्टन के माता-पिता उसे नौ वर्ष की उम्र में ही अनाथ बनाकर चल बसे थे। सौभाग्यवश शादी हो चुकी थी, वरना वह भी माँ-पिता का अनुसरण करता। विधवा सास ने पाल-पोसकर बड़ा किया। बचपन में वह गाय चराता, धारोष्ण दूध पीता और कसरत किया करता था। गाँव के लोग उसकी सास को तरह-तरह की तकलीफ दिया करते थे। लुट्टन के सिर पर कसरत की धुन लोगों से बदला लेने के लिए ही सवार हुई थी। नियमित कसरत ने किशोरावस्था में ही उसके सीने और बाँहों को सुडौल तथा मांसल बना दिया था। जवानी में कदम रखते ही वह गाँव में सबसे अच्छा पहलवान समझा जाने लगा। लोग उससे डरने लगे और वह दोनों हाथों को दोनों ओर 45

डिग्री की दूरी पर फैलाकर पहलवानों की भाँति चलने लगा। वह कुश्ती भी लड़ता था।

एक बार वह 'दंगल' देखने श्यामनगर मेला गया। पहलवानों की कुश्ती और दाँव-पेंच देखकर उससे रहा नहीं गया। जवानी की मस्ती और ढोल की ललकारती हुई हुई आवाज ने उसकी नसों में बिजली उत्पन्न कर दी। उसने बिना कुछ सोचे-समझे दंगल में 'शेर के बच्चे' को चुनौती दे दी। 'शेर के बच्चे' का असल नाम था—चाँद सिंह। वह अपने गुरु पहलवान बादल सिंह के साथ, पंजाब से पहले-पहल श्यामनगर मेले में आया था। सुन्दर-जवान, अंग-प्रत्यंग से सुन्दरता टपक पड़ती थी। तीन दिनों में पंजाबी और पठान पहलवानों के गिरोह की अपनी जोड़ी और उम्र के सभी पट्ठों को पछाड़कर उसने 'शेर के बच्चे' की टायटिल प्राप्त कर ली थी। इसलिए वह दंगल के मैदान में लँगोट लगाकर एक अजीब किलकारी भरकर छोटी दुलकी लगाया करता था। देशी नौजवान पहलवान उससे लड़ने की कल्पना से भी घबड़ाते थे। अपनी टायटिल को सत्य प्रमाणित करने के लिए ही चाँद सिंह बीच-बीच में दहाड़ता फिरता था।

दंगल और शिकार-प्रिय श्यामनगर के वृद्ध राजा साहब उसे दरबार में रखने की बात कर ही रहे थे कि लुट्टन ने 'शेर के बच्चे' को चुनौती दे दी। सम्मान-प्राप्त चाँद सिंह पहले तो किंचित उसकी स्पर्धा पर मुस्कुराया, फिर बाज की तरह उस पर टूट पड़ा। शान्त दर्शकों की भीड़ में खलबली मच गई—पागल है, पागल है, मरा-ऐ! मरा-मरा!!...पर वाह रे बहादुर! लुट्टन बड़ी सफाई से आक्रमण को सम्हालकर, निकलकर खड़ा हुआ और पैंतरा दिखाने लगा। राजा साहब ने कुश्ती बन्द करवाकर लुट्टन को अपने पास बुलवाया और समझाया। अन्त में, उसकी हिम्मत की प्रशंसा करते हुए, दस रुपए

का नोट देकर कहने लगे, ''जाओ, मेला देखकर घर जाओ...!''

''नहीं सरकार, हम लड़ेंगे...हुकुम हो सरकार...!''

''तुम पागल हो? जाओ...''

मैनेजर साहब से लेकर सिपाहियों तक ने धमकाया—''देह में गोश्त नहीं, लड़ने चला है शेर के बच्चे से! सरकार इतना समझा रहे हैं...!!''

''दुहाई सरकार, पत्थर पर सिर पटककर मर जाऊँगा...मिले हुकुम...'' वह हाथ जोड़कर गिड़गिड़ा रहा था।

भीड़ अधीर हो रही थी। बाजे बन्द हो गए थे। पंजाबी पहलवानों की जमात क्रोध से पागल हो लुट्टन पर गालियों की बौछार कर रही थी। दर्शकों की मंडली उत्तेजित हो रही थी। कोई-कोई लुट्टन के पक्ष में चिल्ला उठता था—''उसे लड़ने दिया जाए!''

अकेला चाँद सिंह मैदान में खड़ा व्यर्थ मुस्कुराने की चेष्टा कर रहा था। पहली पकड़ में ही अपने प्रतिद्वन्द्वी की शक्ति का अन्दाजा उसे मिल गया था।

विवश होकर राजा साहब ने आज्ञा दे दी—''लड़ने दो!''

बाजे बजने लगे। दर्शकों में फिर उत्तेजना फैली। कोलाहल बढ़ गया। मेले के दुकानदार दुकान बन्द करके दौड़े, ''चाँद की जोड़ी? चाँद की कुश्ती हो रही है!!''

चट्-धा, गिड़-धा, चट्-धा, गिड़-धा...

दोनों युवक पहलवान पैंतरा भरने लगे। भारी आवाज में एक ढोल, जो अब तक चुप था, बोलने लगा—ढाक्-ढिन्ना, ढाक्-ढिन्ना, ढाक्-ढिन्न...अर्थात् वाह पट्ठे! वाह पट्ठे!!

लुट्टन को चाँद ने कसकर दबा लिया था।

''अरे, गया-गया''—दर्शकों ने तालियाँ बजाईं—''हलुआ हो जाएगा, हलुआ—हँसी खेल नहीं, शेर का बच्चा है...बच्चू!''

''चट्-गिड़-धा, चट्-गिड़-धा, चट्-गिड़-धा''—अर्थात् मत डरना! मत डरना!!

लुट्टन की गर्दन पर केहुनी डालकर चाँद 'चित' करने की कोशिश कर रहा था।

''वहीं दफना दे बहादुर!'' बादल सिंह अपने शिष्य को उत्साहित कर रहा था।

लुट्टन की आँखें बाहर निकल रही थीं। उसकी छाती फटने-फटने को हो रही थी। राजमत, बहुमत चाँद के पक्ष में था। सभी चाँद को शाबाशी दे रहे थे। लुट्टन के पक्ष में सिर्फ ढोल की आवाज थी, जिसके ताल पर वह अपनी शक्ति और दाँव-पेंच की परीक्षा ले रहा था—अपनी हिम्मत को बढ़ा रहा था। अचानक ढोल की एक पतली आवाज सुनाई पड़ी—

''धाक-धिना, तिरकट-तिना, धाक-धिना, तिरकट-तिना...!!''

लुट्टन को स्पष्ट सुनाई पड़ा। ढोल कह रहा था—''दाँव काटो, बाहर हो जा, दाँव काटो, बाहर हो जा!''

लोगों के आश्चर्य की सीमा न रही। लुट्टन दाँव काटकर बाहर निकला और तुरन्त लपककर चाँद की गरदन पकड़ ली।

''वाह रे मिट्टी के शेर!''

''अच्छा! बाहर निकल आया? इसीलिए तो...।''

जनमत बदल रहा था।

मोटी और भौंड़ी आवाजवाला ढोल बज उठा—''चटाक्-चट्-धा, चटाक्-चट्-धा...'' अर्थात्—उठा पटक दे! उठा पटक दे!!

लुट्टन ने चालाकी से दाँव और जोर लगाकर चाँद को जमीन पर दे मारा।

धिक-धिना, धिक-धिना...। अर्थात्—''चित-करो—चित करो!!''

लुट्टन ने अन्तिम जोर लगाया, चाँद सिंह चारों खाने चित हो रहा।

''धा-गिड़, धा-गिड़-गिड़...'' अर्थात् ''वाह बहादुर! वाह बहादुर!!''

जनता यह स्थिर नहीं कर सकी कि किसकी जयध्वनि की जाय, फलतः अपनी—अपनी इच्छानुसार किसी ने 'माँ दुर्गा' की, किसी ने 'महावीरजी' की, कुछ ने 'राजा श्यामानन्द' की—जयध्वनि की, अन्त में सम्मिलित—'जय' से आकाश गूँज उठा।

विजयी लुट्टन कूदता-फाँदता, ताल-ठोकता सबसे पहले बाजेवाले की

ओर दौड़ा, ढोलों को श्रद्धापूर्वक प्रणाम किया फिर दौड़कर उसने राजा साहब को गोद में उठा लिया। राजा साहब के कीमती कपड़े

मिट्टी में सन गए। मैनेजर साहब ने आपत्ति की ''हैं-हैं-अरे-अरे!'' किन्तु राजा साहब ने स्वयं उसे छाती से लगाकर गद्‌गद होकर कहा—''जीते रहो बहादुर! तुमने मिट्टी की लाज रख ली।''

पंजाबी पहलवानों की जमात चाँद सिंह की आँखें पोंछ रही थी। लुट्टन को राजा साहब ने पुरस्कृत ही नहीं किया, अपने दरबार में सदा के लिए रख लिया। तब से लुट्टन राज-पहलवान हो गया और राजा साहब उसे लुट्टन सिंह कहकर पुकारने लगे।

राज-पंडितों में मुँह बिचकाया—''हुजूर! जाति का दुसाध...सिंह...!''

मैनेजर साहब क्षत्रिय थे। 'क्लीन-शेव्ड' चेहरे को संकुचित करते हुए अपनी पूरी शक्ति लगाकर नाक के बाल उखाड़ रहे थे। चुटकी से अत्याचारी बाल को रगड़ते हुए बोले—''हाँ सरकार, यह अन्याय है!''

राजा साहब ने मुस्कुराते हुए सिर्फ इतना ही कहा—''उसने क्षत्रिय का काम किया है।''

उसी दिन से लुट्टन सिंह पहलवान की कीर्ति दूर-दूर तक फैल गई। पौष्टिक भोजन और व्यायाम तथा राजा साहब की स्नेह-दृष्टि ने उसकी प्रसिद्धि में चार चाँद लगा दिए। कुछ वर्षों में ही उसने एक-एक कर सभी नामी पहलवानों को मिट्टी सुँघाकर आसमान दिखा दिया। काला खाँ के सम्बन्ध में यह बात मशहूर थी कि वह ज्यों ही लँगोट लगाकर—'आ-ली' कहकर अपने प्रतिद्वन्द्वी पर टूटता है, प्रतिद्वन्द्वी पहलवान को लकवा मार जाता है। लुट्टन ने उसको भी पटककर लोगों का भ्रम दूर कर दिया। उसके बाद वह राज-दरबार का दर्शनीय 'जीव' ही रहा।

चिड़ियाखाने में, पिंजड़े और जंजीरों को झकझोरकर बाघ दहाड़ता—''हाँ ऊँ, हाँ ऊँ!!'' सुननेवाले कहते—''राजा का बाघ बोला।''

ठाकुरबाड़े के सामने पहलवान गरजता—''महा-वीर''! लोग समझ लेते पहलवान बोला।

मेलों में वह घुटने तक लम्बा चोगा पहने, अस्त-व्यस्त, पगड़ी बाँधकर मतवाले हाथी की तरह झूमता चलता। दुकानदारों को चुहल करने की सूझती। हलवाई अपनी दुकान में बुलाता—''पहलवान काका! ताजा रसगुल्ला बना है, जरा नाश्ता कर लो।''

पहलवान बच्चों की-सी स्वाभाविक हँसी हँसकर कहता—''अरे तनी-मनी काहे! ले आवा डेढ़ सेर!''...और बैठ जाता।

दो सेर रसगुल्लों को उदरस्थ करके, मुँह में आठ-दस पान की गिलौरियों को ठूँस, ठुड्डी को पान के रस से लाल करते हुए अपनी चाल में मेला में घूमता। मेला से दरबार लौटते समय उसका अजीब हुलिया रहता—आँखों पर रंगीन अबरख का चश्मा, हाथ में खिलौनों को नचाता और मुँह से पीतल की सीटी बजाता, हँसता हुआ वह वापस आता। बल और शरीर की वृद्धि के साथ-साथ बुद्धि घटकर बच्चों की बुद्धि के बराबर ही रह गई थी उसमें।

दंगल में ढोल की आवाज सुनते ही वह अपने भारी-भरकम शरीर का प्रदर्शन करना शुरू कर देता था। उसकी जोड़ी तो मिलती नहीं थी, यदि कोई उससे लड़ना भी चाहता तो राजा साहब लुट्टन को आज्ञा ही नहीं देते। इसलिए वह निराश होकर, लँगोट लगाकर, देह में मिट्टी मल और उछलकर अपने को साँड़ या भैंसा साबित करता रहता था। बूढ़े राजा साहब देख-देखकर मुस्कुराते रहते।

यों ही पन्द्रह वर्ष बीत गए। पहलवान अजेय रहा। वह दंगल में अपने दोनों पुत्रों को लेकर उतरता था। पहलवान की सास पहले ही मर चुकी थी, पिता पहलवान की स्त्री भी दो-दो पहलवानों को पैदा करके स्वर्ग सिधार गई थी। दोनों पिता की तरह गठीले और तगड़े थे। दंगल में दोनों को देखकर लोगों के मुँह से अनायास ही निकल पड़ता—''वाह! बाप से भी बढ़कर निकलेंगे ये दोनों बेटे!''

दोनों ही लड़के राज-दरबार के भावी पहलवान घोषित हो चुके थे। अत: दोनों का भरण-पोषण दरबार से ही हो रहा था।

प्रतिदिन प्रात:काल पहलवान स्वयं ढोलक बजा-बजाकर दोनों से कसरत करवाता। दोपहर में, लेटे-लेटे दोनों को सांसारिक ज्ञान की शिक्षा भी देता—''समझे। ढोलक की आवाज पर पूरा ध्यान रखना। हाँ, मेरा गुरु कोई पहलवान नहीं, यही ढोल है, समझे!...ढोल की आवाज के प्रताप से ही मैं पहलवान हुआ। दंगल में उतर सबसे पहले ढोलों को प्रणाम करना, समझे!'' ऐसी ही बहुत-सी बातें वह कहा करता। फिर मालिक को कैसे खुश रखा जाता है, कब कैसा व्यवहार करना चाहिए आदि की शिक्षा वह नित्य दिया करता था।

किन्तु उसकी शिक्षा-दीक्षा, सब किए-कराए पर एक दिन पानी फिर गया। वृद्ध राजा साहब स्वर्ग सिधार गए। नए राजकुमार ने राज्य-कार्य अपने हाथ में ले लिया। राजा साहब के समय में जो शिथिलता आ गई थी, राजकुमार के आते ही दूर हो गई। बहुत से परिवर्तन हुए, उन्हीं परिवर्तनों के चपेटाघात में पड़ा पहलवान भी। दंगल का स्थान घोड़े के रेस ने ले लिया। पहलवान तथा दोनों भावी पहलवानों का दैनिक भोजन-व्यय सुनते ही राजकुमार ने कहा—''टेरिबुल!''

पहलवान को साफ जवाब मिल गया, राज-दरबार में उसकी आवश्यकता

नहीं। उसको गिड़गिड़ाने का भी मौका नहीं दिया गया। उसी दिन वह ढोलक कन्धे से लटकाकर, अपने पुत्रों के साथ अपने गाँव में लौट आया तो वहीं रहने लगा। गाँव के एक छोर पर, गाँववालों ने एक झोंपड़ी बाँध दी। वहीं रहकर वह गाँव के नौजवानों और चरवाहों को कुश्ती सिखाने लगा। खाने-पीने का खर्च गाँववालों की ओर से बँधा हुआ था। सुबह-शाम वह स्वयं ढोलक बजाकर अपने शिष्यों और पुत्रों को दाँव-पेंच वगैरह सिखाया करता था।

गाँव के किसान और खेतिहर-मजदूर के बच्चे भला क्या खाकर कुश्ती सीखते! धीरे-धीरे पहलवान का स्कूल खाली पड़ने लगा। अन्त में, अपने दोनों पुत्रों को ही वह ढोलक बजा-बजाकर लड़ाता रहा। सिखाता रहा। दोनों लड़के दिन-भर मज़दूरी करके जो कुछ भी लाते उसी में गुजर होती रही। अकस्मात् गाँव पर वज्रपात हुआ। पहले अनावृष्टि, फिर अन्न की कमी, तब मलेरिया और हैजे ने मिलकर गाँव को भूनना शुरू कर दिया। गाँव प्रायः सूना हो चला था। घर के घर खाली पड़ गए थे। दिन में तो—कलरव, हाहाकार तथा हृदय-विदारक रुदन के बावजूद लोगों के चेहरे पर कुछ प्रभा दृष्टिगोचर होती थी, शायद सूर्य के प्रकाश में। सूर्यास्त होते ही लोग काँखते-कूँखते-कराहते अपने-अपने घरों से बाहर निकलकर अपने पड़ोसियों को ढाढ़स देते थे।

''अरे क्या करोगी रोकर दुलहिन! जो गया सो चला गया, वह तुम्हारा नहीं था, अब जो है उसको तो देखो।''

''भैया! घर में मुर्दा रखकर कब तक रोओगे? कफन? कफन की क्या जरूरत है, दे आओ नदी में!'' इत्यादि।

किन्तु सूर्यास्त होते ही जब लोग अपनी-अपनी झोंपड़ियों में घुस जाते

तो चूँ भी नहीं करते। उनके बोलने की शक्ति भी जाती रहती थी। पास में दम तोड़ते हुए पुत्र को अन्तिम बार बेटा कहकर पुकारने की हिम्मत माताओं को नहीं होती थी। रात्रि की विभीषिका को सिर्फ पहलवान की ढोलक ही ललकारकर चुनौती देती रहती थी। पहलवान सन्ध्या से सुबह तक चाहे जिस खयाल से ढोलक बजाता हो, किन्तु गाँव के अर्द्धमृत औषधि-उपचार-पथ्य-विहीन प्राणियों में वह संजीवनी शक्ति ही भरती थी। बूढ़-बच्चे-जवानों की शक्तिहीन आँखों के आगे दंगल का दृश्य नाचने लगता था। स्पन्दन-शक्ति शून्य स्नायुओं में भी बिजली दौड़ जाती थी। अवश्य ही ढोलक की आवाज में न तो बुखार हटाने का कोई गुण था और न महामारी की सर्वनाश गति को रोकने की शक्ति ही, पर इसमें सन्देह नहीं कि मरते हुए प्राणियों को आँख मूँदते समय कोई तकलीफ नहीं होती थी, मृत्यु से वे डरते नहीं थे।

जिस दिन पहलवान के दोनों बेटे क्रूर काल के चपेटाघात में पड़े, असह्य वेदना से छटपटाते हुए दोनों ने कहा था—''बाबा! 'उठा पटक दो' वाला तान बजाओ!'' ...चटाक्-चट्-धा, चटाक्-चट्-धा—सारी रात ढोलक पीटता रहा पहलवान। बीच-बीच में पहलवानों की भाषा में उत्साहित भी करता था—'मारो बहादुर!' प्रात:काल उसने देखा उसके दोनों बेटे जमीन पर निस्पन्द पड़े हैं। दोनों पेट के बल पड़े हुए थे। एक ने दाँत से मिट्टी खोद ली थी। एक लम्बी साँस लेकर पहलवान ने मुस्कुराने की चेष्टा की थी—'दोनों बहादुर गिर पड़े!'

उस दिन पहलवान ने राजा श्यामानन्द की दी हुई रेशमी जाँघिया पहन ली, सारे शरीर में मिट्टी मलकर थोड़ी कसरत की, फिर दोनों पुत्रों को दोनों कन्धों पर लादकर नदी में बहा आया। लोगों ने सुना तो दंग रह गए। कितनों की हिम्मत टूट गई। किन्तु उस रात में फिर पहलवान की ढोलक की आवाज, प्रतिदिन की भाँति ही सुनाई

पड़ी। लोगों की हिम्मत दुगुनी बढ़ गई। सन्तप्त पिता-माताओं ने कहा—''दोनों पहलवान बेटे मर गए पर पहलवान की हिम्मत तो देखो, क्या कलेजा है!''

चार-पाँच दिनों के बाद। एक रात को ढोलक की आवाज नहीं सुनाई पड़ी। ढोलक नहीं बोली। पहलवान के कुछ दिलेर किन्तु रूठे शिष्यों ने प्रात:काल जाकर देखा—पहलवान की लाश चित पड़ी है। रात में सियारों ने बाईं जाँघ के मांस को खा डाला है, पेट पर भी...

आँसू पोंछते हुए एक ने कहा—''गुरुजी कहा करते थे कि जब मैं मर जाऊँ तो चिता पर मुझे पेट के बल सुलाना। मैं जिन्दगी में कभी 'चित' नहीं हुआ। और चिता सुलगाने के समय ढोलक बजा देना...'' वह आगे नहीं बोल सका।

पास में ही ढोलक लुढ़की पड़ी थी। सियारों ने ढोलक को 'भोज्य-पदार्थ' समझकर उसके चमड़े को फाड़ डाला था।

जिन्दगी और जोंक

*

अमरकान्त

महल्ले में जिस दिन उसका आगमन हुआ, सवेरे तरकारी लाने के लिए बाजार जाते समय मैंने उसको देखा था। शिवनाथ बाबू के घर के सामने सड़क की दूसरी ओर स्थित खँडहर में, नीम के पेड़ के नीचे, एक दुबला-पतला काला आदमी, गन्दी लुंगी में लिपटा चित्त पड़ा था, जैसे रात में आसमान से टपककर बेहोश हो गया हो अथवा दक्षिण भारत का भूला-भटका साधु निश्चिन्त स्थान पाकर चुपचाप नाक से हवा खींच-खींच कर प्राणायाम कर रहा हो।

फिर मैंने शायद एक दो बार और भी उसका कठपुतले की भाँति डोल-डोलकर सड़क को पार करते या मुहल्ले के एक-दो मकानों के सामने चक्कर लगाते या बैठकर हाँफते हुए देखा। इसके अलावा मैं उसके बारे में उस समय तक कुछ नहीं जानता था।

रात के लगभग दस बजे खाने के बाद बाहर आकर लेटा था। चैत का महीना, हवा तेज चल रही थी। चारों ओर घुप अंधियारा। प्रारम्भिक झपकियाँ ले ही रहा था कि 'मारो-मारो' का हल्ला सुनकर चौंक

पड़ा। यह शोरगुल बढ़ता गया। मैं तत्काल उठ बैठा। शायद आवाज शिवनाथ बाबू के मकान की ओर से आ रही थी। जल्दी से पाँव चप्पल में डाल उधर को चल पड़ा।

मेरा अनुमान ठीक था। शिवनाथ बाबू के मकान के सामने ही भीड़ लगी थी। मुहल्ले के दूसरे लोग भी शोरगुल सुनकर अपने घरों से भागे चले आ रहे थे। मैंने भीतर घुसकर देखा और कुछ चकित रह गया। खँडहर का वही भिखमंगा था। शिवनाथ बाबू का लड़का रघुवीर उस भिखमंगे की दोनों बाँहों को पीछे से पकड़े हुए था और दो-तीन व्यक्ति आँख मूँद तथा उछल-कूदकर उसे बेतहाशा पीट रहे थे। शिवनाथ बाबू तथा अन्य लोग भयजन्य क्रोध से आँखें फाड़-फाड़कर घूर रहे थे।

भिखमंगा नाटा था। गाल पिचके हुए, आँखें धँसी हुईं, और छाती की हड्डियाँ साफ बाँस की खपचियों की तरह दिखाई दे रही थीं। पेट नाँद की तरह फूला हुआ। मार पड़ने पर वह बेतहाशा चिल्ला रहा था, ''मैं बरई हूँ, बरई हूँ, बरई हूँ...''

''साला छँटा हुआ चोर है, साहब।'' शिवनाथ बाबू मेरे पास सरक आये थे, ''पर यह हमारा-आपका दोष है कि आदमी नहीं पहचानते। गरीबों को देखकर हमारा-आपका दिल पसीज जाता है। और मौका-बे-मौका खुद्दी-चुन्नी, साग-सत्तू आपने तो इसको देखा ही होगा, मालूम होता था महीनों से खाना नहीं मिला है पर कौन जानता था कि साला ऐसा निकलेगा, हरामी का पिल्ला...!'' फिर भिखमंगे की ओर मुड़कर गरज पड़े, ''बता साले, साड़ी कहाँ रखी है? नहीं इतनी मार पड़ेगी कि नानी याद आ जायेगी।''

उनका गला जोर से चिल्लाने के कारण किंचित् बैठ गया था,

इसलिए सम्भवत: थककर वह चुप हो गये। पीटने वालों ने भी इस समय पीटना बन्द कर दिया था, लेकिन शिवनाथ बाबू के वक्तव्य से रामजी मिश्र का शोहदा पहलवान लड़का शम्भू अत्यधिक प्रभावित मालूम पड़ा। वह अभी-अभी आया था और शिवनाथ बाबू का बयान समाप्त होते ही आव देखा न ताव, भीड़ में से आगे लपक, जूता हाथ में ले गन्दी गालियाँ देते हुए भिखमंगे को पीटना शुरू कर दिया।

''एक-डेढ़ हफ्ते से मुहल्ले में आया हुआ है'' शिवनाथ बाबू जैसे निशं्चित होकर फिर बोले, ''लालची कुत्तों की तरह इधर-उधर घूमा करता था; सो हमारे घर में दया आ गयी। एक रोज इसे बुलाकर उन्होंने कटोरे में दाल-भात तरकारी खाने को दे दी। बस क्या था, परच गया। रोज आने लगा। खैर कोई बात नहीं थी, आपकी दया से ऐसे दो-तीन भर-भिखमंगे रोज ही खाकर दुआ दे जाते हैं। यह घर में आने लगा तो मौका पड़ने पर एकाध काम भी कर देता था, अब यह किसको पता था कि आज यह घर से नयी साड़ी चुरा लेगा।''

''आपको ठीक से पता है कि साड़ी इसी ने चुरायी है!''

मेरे इस प्रश्न से वे बिगड़ गये। बोले, ''आप भी खूब बात करते हैं। यही पता लग गया तो चोर कैसा? मैं तो खूब जानता हूँ कि ये सब चोरी का माल होशियारी से छिपा देते हैं और जब तक इनकी कड़ी पिटाई न की जाये, कुछ नहीं बताते। अब यही समझिए कि करीब नौ बजे साड़ी गायब हुई। जमुना का कहना है कि उसी समय उसने इसको किसी सामान के साथ घर से निकलते हुए देखा। फिर मैं यह पूछता हूँ कि आज दस वर्ष सेकृमेरे घर का दरवाजा इसी तरह खुला रहता है, लेकिन कभी चोरी नहीं हुई। आज ही कौन-सी नयी बात हो गयी कि वह आया नहीं और मुहल्ले में चोरी बदमाशी शुरू हो गयी। अरे, मैं इन सालों को खूब जानता हूँ।''

वह भिखमंगा अब भी तेज मार पड़ने पर चिल्ला उठता, ''मैं बरई हूँ, बरई हूँ, बरई हूँ...'' स्पष्ट था कि इतने लोगों को देखकर वह काफी भयभीत हो गया था और अपने समर्थन में कुछ न पाकर बेतहाशा अपनी जाति का नाम ले रहा था, जैसे हर जाति के लोग चोर हो सकते हैं, लेकिन बरई कतई नहीं हो सकते।

नये लोग अब भी आ रहे थे। वे क्रोध और उत्तेजना में आकर उसे पीटते और फिर भीड़ में मिल जाते। और जब लगातार मार पड़ने पर भी उसने कुछ नहीं बताया तो लोग खामखाह थक गये। कुछ लोग वहाँ से सरकने भी लगे। किसी ने उसे पेड़ में बाँधने और किसी ने पुलिस के सुपुर्द करने की सलाह दी। मैं भी कुछ ऐसी ही सलाह देकर खिसकना चाहता था कि शिवनाथ बाबू का मँझला लड़का योगेन्द्र दौड़ता हुआ आया और अपने पिताजी को अलग ले जाते हुए फुस-फुस कुछ बातें कीं।

कुछ देर बाद शिवनाथ बाबू जब वापस आये उनके चेहरे पर हवाइयाँ सी उठ रही थीं। एक दो क्षण इधर-उधर तथा मेरी ओर बेचारे की तरह देखने के बाद वह बोले, ''अच्छा इस बार छोड़ देते हैं। साला काफी पा चुका है, आइन्दा ऐसा करते चेतेगा।''

लोग शिवनाथ बाबू को बुरा-भला कहकर रास्ता नापने लगे। मैंने उनकी ओर मुस्कुराकर देखा तो मेरे पास आकर झेंपते हुए बोले, ''इस बार तो साड़ी घर में ही मिल गयी है, पर कोई बात नहीं। चमार-सियार डाँट-डपट पाते ही रहते हैं पड़ी है, चोर-चाईं तो रात-रात भर मार खाते हैं। अरे, इस पर क्या और कुछ भी नहीं बताते।'' फिर बायीं आँख को खूबी से दबाते हुए दाँत गोलकर हँस पड़े, ''चलिए साहब, नीच और नींबू को दबाने से रस निकलता है।''

कभी-कभी मुझे आश्चर्य होता है कि उस दिन की पिटाई के बाद भी खँडहर का वह भिखमंगा मुहल्ले में टिके रहने की हिम्मत कैसे कर सका? हो सकता है, उसने सोचा हो कि निर्दोष छूट जाने के बाद मुहल्ले के लोगों का विश्वास और सहानुभूति उसको प्राप्त हो जायेगी और दूसरी जगह उसी अनिश्चितता का सामना करना पड़ेगा।

चाहे जो हो, उसके प्रति मेरी दिलचस्पी अब और बढ़ गयी थी। मैं उसको खँडहर में बैठकर कुछ खाते या चुपचाप सोते या मुहल्ले में डगमग सरकते हुए देखता। लोग अब उसको कुछ-न-कुछ दे देते! बचा हुआ बासी या जूठा खाना पहले कुत्तों या गाय-भैंसों को दे दिया जाता, परन्तु अब औरतें बच्चों को दौड़ा देतीं कि जाकर भिखमंगे को दे आयें। कुछ लोगों ने तो उसको कोई पहुँचा हुआ साधु-महात्मा तक कह डाला।

और धीरे-धीरे खँडहर का परित्याग कर दिया और आम सहानुभूति एवं विश्वास का आश्चर्यजनक लाभ उठाते हुए, जब वह किसी-न-किसी के ओसारे या दालान में जमीन

पर सोने-बैठने लगा तो लोग उससे हल्के-फुल्के काम भी लेने लगे। दया-मया के मामले

में शिवनाथ बाबू से पार पाना टेढ़ी खीर है, किन्तु भिखमंगा उनके दरवाजे पर जाता ही न था।

लेकिन एक दिन उन्होंने किसी शुभ मुहूर्त में उसे सड़क से गुजरते समय संकेत से अपने पास बुलाया और तिरछी नजर से देखते हुए, मुस्कुराकर बोले, ''देख बे, तूने चाहे जो कुछ भी किया, हमसे तो यह सब नहीं देखा जाता। दर-दर भटकता रहता है। कुत्ते-सुअर का

जीवन जीता है। आज से इधर-उधर भटकना छोड़, आराम से यहीं रह और दोनों जून भरपेट खा।''

पता नहीं, यह शिवनाथ बाबू के स्नेह से सम्भव हुआ या डर से, पर भिखमंगा उनके यहाँ स्थायी रूप से रहने लगा। उन्हीं के यहाँ उसका नामकरण भी हुआ। उनका नाम गोपाल भी था, लेकिन शिवनाथ बाबू के दादा का नाम गोपाल सिंह था, इसलिए घर की औरतों की जबान से वह नाम उतरता ही न था। उन्होंने उसको 'रजुआ' कहना आरम्भ किया और धीरे-धीरे यही नाम सारे मुहल्ले में प्रसिद्ध हो गया।

किन्तु रजुआ के भाग्य में बहुत दिनों तक शिवनाथ बाबू के यहाँ टिकना न लिखा था। बात यह है कि मुहल्ले के लोगों को यह कतई पसन्द न था कि केवल दोनों जून भोजन पर रजुआ शिवनाथ बाबू की सेवा करे। जब भगवान् ने उनके बीच एक नौकर भेज ही दिया था तो उस पर उनका भी उतना ही अधिकार था और मौका देखकर उसको अपनी सेवा करने का अवसर देना आरम्भ कर दिया। वह शिवनाथ बाबू के किसी काम से जाता तो रास्ते में कोई-न-कोई उसको पैसे देकर किसी काम की फरमाइश कर देता और यदि वह आनाकानी करता तो सम्बन्धित व्यक्ति बिगड़कर ''साला, तू शिवनाथ का गुलाम है? वह क्या कर सकते हैं? मेरे यहाँ बैठकर खाया कर, वह क्या खिलायेंगे, बासी भात ही तो देते होंगे।''

रजुआ शिवनाथ बाबू से अब भी डरता था, इसीलिए उनसे छिपाकर ही वह अन्य लोगों का काम करता। किन्तु उसको पीटने का और व्यक्तियों को भी उतना ही अधिकार था। एक बार जमुनालाल के लड़के जंगी ने रजुआ से तीन-चार आने की लकड़ी लाने के लिए कहा और रजुआ फौरन आने का वायदा करके चला गया। पर वह शीघ्र न आ सका, क्योंकि शिवनाथ बाबू के घर की औरतों ने उसे

इस या उस काम में बाँध रखा। बाद में वह जब जमुनालाल के यहाँ पहुँचा तो जंगी ने पहला काम यह किया कि दो थप्पड़ उसके गाल पर जड़ दिये, फिर गरजकर बोला, ''सुअर, धोखा देता है? कह देता नहीं आऊँगा। अब आज मैं तुमसे दिन भर काम कराऊँगा, देखें कौन साला रोकता है। आखिर हम भी मुहल्ले में रहते हैं कि नहीं।''

और सचमुच जंगी ने उससे दिन-भर काम लिया। शिवनाथ बाबू को सब पता लग गया, लेकिन उनकी उदार व्यावहारिक बुद्धि की प्रशंसा किये बिना नहीं रहा जाता, क्योंकि उन्होंने चूँ तक नहीं की।

ऐसी ही कई घटनाएँ हुईं, पर रजुआ पर किसी का स्थायी अधिकार निश्चित न हो सका। उसकी सेवाओं की उपयोग-सम्बन्धी खींचातानी से उसका समाजीकरण हो गया। मुहल्ले का कोई भी व्यक्ति दो-चार रुपये देकर स्थायी रूप से नौकर रखने को तैयार न हुआ, क्योंकि वह इतना शक्तिशाली कतई न था कि चौबीस घंटे नौकर की महान् जिम्मेदारियाँ सम्हाल सके। वह तेजी के साथ पचीस-पचास गगरे पानी न भर सकता था, बाजार से दौड़कर भारी सामान-सौदा न ला सकता था। अतएव लोग उससे छोटा-मोटा काम ले लेते और इच्छानुसार उसे कुछ-न-कुछ दे देते। अब न वह शिवनाथ बाबू के यहाँ टिकता और न जमुनालाल के यहाँ, क्योंकि उसको कोई टिकने ही न देता। इसको रजुआ ने भी समझ लिया और मुहल्ले के लोगों ने भी। वह अब किसी व्यक्ति-विशेष का नहीं, बल्कि सारे मुहल्ले का नौकर हो गया।

रजुआ के लिए छोटे-मोटे कामों की कमी न थी। किसी के यहाँ खा-पीकर वह बाहर की चौकी या जमीन पर सो रहता और सवेरे उठता तो मुहल्ले के लोग उसका मुँह जोहते। नौकर-चाकर किसी के यहाँ बहुत दिनों तक टिकते नहीं थे और भाग-भागकर रिक्शे चलाने

लगते या किसी मिल या कारखाने में काम करने लगते। दो-चार व्यक्तियों के यहाँ ही नौकर थे, अन्य घरों में कहार पानी भर देता, तो लेकिन वह गगरों के हिसाब से पानी देता और यदि एक गगरा भी अधिक देता तो उसका मेहनताना पाई-पाई वसूल कर लेता। इस स्थिति में रजुआ का आगमन जैसे भगवान् का वरदान था।

लोग उससे छोटा-बड़ा काम लेकर इच्छानुसार उसकी मजदूरी चुका देते। यदि उसने कोई छोटा काम किया तो उसे बासी रोटी या भात या भुना हुआ चना या सत्तू दे दिया जाता और वह एक कोने में बैठकर चापुड़-चापुड़ खा-फाँक लेता। अगर कोई बड़ा काम कर देता तो एक जून का खाना मिल जाता, पर उसमें अनिवार्य रूप से एकाध चीज बासी रहती और कभी-कभी तरकारी या दाल नदारत होती। कभी भात-नमक मिल जाता, जिसे वह पानी के साथ खा जाता। कभी-कभी रोटी, अचार और कभी-कभी तो सिर्फ तरकारी ही खाने या दाल पीने को मिलती। कभी खाना न होने पर दो-चार पैसे मिल जाते या मोटा पुराना कच्चा चावल या दाल या चार-छः आलू। कभी उधार भी चलता। वह काम कर देता और उसके एवज में फिर किसी दिन कुछ-न-कुछ पा जाता।

इसी बीच वह मेरे घर भी आने लगा था, क्योंकि मेरी श्रीमती जी बुद्धि के मामले में किसी से पीछे न थीं। रजुआ आता और काम करके चला जाता। एक-दो बार मुझसे भी मुठभेड़ हुई, पर मैं कुछ बोला नहीं।

कोई छुट्टी का दिन था। मैं बाहर बैठा एक किताब पढ़ रहा था कि इतने में रजुआ भीतर आया और कोने में बैठकर कुछ खाने लगा। मैंने घूमकर एक निगाह उस पर डाली। उसके हाथ में रोटी और थोड़ा-सा अचार था और वह सुअर की भाँति चापुड़-चापुड़ खा रहा

था। बीच-बीच में यह मुस्कुरा पड़ता, जैसे कोई बड़ी मंजिल सर करके बैठा हो।

मैं उसकी ओर देखता रहा और मुझे वह दिन याद आ गया, जब चोरी के अभियोग में उसकी पिटाई हुई थी। जब वह खाकर उठा तो मैंने पूछा, ''क्यों रे रजुआ, तेरा घर कहाँ है?''

वह सकपकाकर खड़ा हो गया, फिर मुँह टेढ़ा करके बोला, ''सरकार, रामपुर का रहने वाला हूँ!'' और उसने दाँत निपोर दिये।

''गाँव छोड़कर यहाँ क्यों चला आया?'' मैंने पुनः प्रश्न किया।

क्षणभर वह असमंजस में मुझे खड़ा ताकता रहा फिर बोला, ''पहले रसड़ा में था, मालिक!''

जैसे रामपुर से सीधे बलिया आना कोई अपराध हो। उसके लिए संभवतः ''क्यों'' का कोई महत्त्व नहीं था, जैसे गाँव छोड़ने का जो भी कारण हो, वह अत्यन्त सामान्य एवं स्वाभाविक था और वह न उसके बताने की चीज थी और न किसी के समझने की।

''रामपुर में कोई है तेरा?'' मैंने एक-दो क्षण उसको गौर से देखने के बाद दूसरा सवाल किया।

''नहीं मालिक, बाप और दो बहनें थीं, ताऊन में मर गयीं।'' वह फिर दाँत निपोर हँस पड़ा।

उसके बाद मैंने कोई प्रश्न नहीं किया। हिम्मत नहीं हुई। वह फौरन वहाँ से सरक गया और मेरा हृदय कुछ अजीब-सी घृणा से भर उठा। उसकी खोपड़ी किसी हलवाई की दुकान पर दिन में लटकते

काले गैस लैम्प की भाँति हिल-डुल रही थी। हाथ-पैर पतले पेट अब भी हँड़ियों की तरह फूला हुआ और सारा शरीर निहायत गंदा एवं घृणित...मेरी इच्छा हुई; जाकर घर में बीवी से कह दूँ कि इससे कोई काम न लिया करो, यह रोगी...फिर टाल गया, क्योंकि इससे मेरा ही घाटा था। मैं जानता था कि नौकरों की कितनी किल्लत थी और रजुआ के रहने से इतना आराम हो गया था कि मैं हर पहली या दूसरी तारीख को राशन, मसाला आदि खरीदकर महीने-भर के लिए निश्चिन्त हो जाता।

× × ×

''इनकिलाब जिन्दाबाद! महात्मा गांधी की जै!''

कुछ महीने के बाद एक दिन जब मैं अपने कमरे में बैठा था कि मुझे रजुआ के नारे लगाने फिर 'ही-ही' हँसने की आवाज सुनाई दी।

मैं चौंका और मैंने सुना, आँगन में पहुँचकर वह जोर से कह रहा है ''मलिकाइन, थोड़ा नमक होगा, रामबली मिसिर के यहाँ से रोटियाँ मिल गयी हैं, दाल बनाऊँगा।''

मेरी पत्नी चूल्हे-चौके में लगी थी। उसने कुछ देर बाद उसको नमक देते हुए पूछा, ''रजुआ, सच बताना, तुझे नहाये हुए कितने दिन हो गये?''

''खिचड़ी की खिचड़ी नहाता हूँ न, मलिकाइन जी!'' वह नमक लेकर बोला और हँसते हुए भाग गया।

मैं कमरे में बैठा यह सब सुन रहा था सम्भवत: उसको मेरी उपस्थिति का ज्ञान न था, अन्यथा वह ऐसी बात न करता। लेकिन यह बात

साफ थी कि अब वह मुहल्ले में जम गया है। उसको खाने-पीने की चिन्ता नहीं है। इतना ही नहीं, अब वह मुहल्ले-भर से शह पा रहा है। लोग अब उससे हँसी-मजाक भी करने लगे हैं और उसे मारे-पीटे जाने का किंचित् मात्र भी भय नहीं। अवश्य ही यह बात थी और वह स्थिति में परिवर्तन से लाभ उठाते हुए ढीठ हो गया था। इसलिए उसने अपने आगमन की सूचना देने के लिए राजनीतिक नारे लगाये थे, जैसे वह कहना चाहता हो कि मैं हँसी-मजाक का विषय हूँ, लोग मुझसे मजाक करें, जिससे मेरे हृदय में हिम्मत ढाढ़स बँधे।

मुझे बड़ा ही आश्चर्य हुआ। लेकिन कुछ ही दिन बाद मैंने उसकी एक और हरकत देखी, जिससे मेरे अनुमान की पुष्टि होती थी।

सायंकाल दफ्तर से आ रहा था कि जीउतराम के गोले के पास मैंने रजुआ की आवाज सुनी। पतिया की स्त्री बर्तन माँज रही थी और उसके पास खड़ा रजुआ टेढ़ा मुँह करके बोल रहा था, ''सलाम हो भौजी, समाचार ठीक है न।'' अन्त में बेमतलब 'ही-ही' हँसने लगा।

पतिया की बहू ने थोड़ा मुस्की काटते हुए सुनाया, ''दूर हो पापी, समाचार पूछने का तेरा ही मुँह है? चला जा, नहीं तो जूठ की काली हाँडी वह मारूँगी कि सारी लफंगई...'' यहाँ उसने एक गन्दे मुहावरे का इस्तेमाल किया।

लेकिन मालूम पड़ता है कि रजुआ इतने ही से खुश हो गया, ''क्योंकि वह मुँह फैलाकर हँस पड़ा और फिर तुरन्त उसने दो-तीन बार सिर को ऊपर झटका देते हुए ऐसी किलकारियाँ लगायीं जैसे घास चरता हुआ गधा अचानक सिर उठाकर ढीचूँ-ढीचूँ कर उठता है।

फिर तो यह उसकी आदत हो गयी। सारे मुहल्ले को छोटी जातियों

की औरतों से उसने भौजाई का सम्बन्ध जोड़ लिया था। उनको देखकर वह कुछ हल्की-फुल्की छेड़खानी कर देता, जिसके उत्तर में उसे आशानुकूल गालियाँ-झिड़कियाँ सुनने को मिल जातीं, और तब वह गधे की तरह ढीचूँ-ढीचूँ कर उठता।

कुएँ पर पहुँचकर वह किसी औरत को कनखी से निहारता और अन्त में पूछ बैठता, ''यह कौन है? अच्छा, बड़की भौजी हैं। सलाम, भौजी। सीताराम सीताराम, राम-नाम जपना, पराया माल अपना।'' इतना कहकर वह दुष्टतापूर्वक हँस पड़ता।

वह किसी काम से जा रहा होता, पर रास्ते में किसी औरत को बर्तन माँजते या अपने दरवाजे पर बैठे हुए या कोई काम करते हुए देख लेता तो एक दो मिनट के लिए वहाँ पहुँच जाता, बेहया की तरह हँसकर कुशल-क्षेम पूछता और अन्त में झिड़की-गाली सुनकर किलकारियाँ मारता हुआ वापस चला जाता। धीरे-धीरे वह इतना सहक गया कि नीची जाति की किसी जवान स्त्री को देखकर, चाहे वह जान-पहचान की हो या न हो, दूर से ही हिचकी दे-देकर किलकने लगा।

मेरी तरह मुहल्ले के अन्य लोगों ने भी उसके इस परिवर्तन पर गौर किया था, और सम्भवत: इसी कारण लोग उसे 'रजुआ साला' कहने लगे। अब कोई बात कहनी होती, कितनी गम्भीर काम के लिए पुकारना होता लोग उसे 'रजुआ साला' कहकर बुलाते और अपने काम की फरमाइश करके हँस पड़ते। उनकी देखा-देखी लड़के भी ऐसा ही करने लगे, जैसे 'साला' कहे बिना रजुआ का कोई अस्तित्व ही न हो। और इससे रजुआ भी बड़ा प्रसन्न था, जैसे इससे उसके जीवन में अनिश्चितता कम हो रही हो और उस पर अचानक कोई संकट आने की संभावना संकुचित होती जा रही हो।

और अब लोग उसे चिढ़ाने भी लगे।

''क्यों वे रजुआ साला, शादी करेगा?'' लोग उसे छेड़ते। रजुआ उनकी बातों पर 'खी-खी' हँस पड़ता और अपनी आदत के अनुसार सिर को ऊपर की ओर दो-तीन बार झटके देता हुआ तथा मुँह से ऐसी हिचकी की आवाज निकालता हुआ, जो अधिक कड़वी चीज खाने पर निकलती है, चलता बनता। वह समझ गया था कि लोग उसे देखकर खुश होते हैं और अब वह सड़क पर चलते, गली से गुजरते, घर में घुसते काम की फरमाइश लेकर घर से निकलते और कुएँ पर पानी भरते समय जोरों से चिल्लाकर उस समय के राजनीतिक नारे लगाता या कबीर की गलत-सलत बानी बोलता या किसी की सुनी हुई कविता या दोहे की एक-दो पंक्तियाँ गाता। ऐसा करते समय वह किसी ओर देखता नहीं, बल्कि टेढ़ा मुँह करके जमीन की ओर देखता हुआ मुँह फैला कर हँसे जाता, जैसे वह दिमाग की आँखों से देख रहा हो कि उसकी हरकतों को बहुत-से लोग देख-सुनकर प्रसन्न हो रहे हैं।

× × ×

सायंकाल दफ्तर से आने और नाश्ता-पानी करने के बाद मैं प्राय: हवाखोरी करने निकल जाता हूँ। रेलवे लाइन पकड़कर बाँसडीह की ओर जाना मुझे सबसे अच्छा लगता है। सरयू पार करके गंगाजी के किनारे घूमना-टहलना कम आनन्दमयी नहीं है, लेकिन उसमें सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि बरसात में दोनों नदियाँ बढ़कर समुद्र का रूप धर लेती हैं और उसमें इतने दलदल मिलते हैं कि आने की हिम्मत नहीं होती। लेकिन कभी-कभी ऐसा भी होता है कि मुझे देर हो जाती है या अधिक चलने-फिरने की कोई इच्छा नहीं होती और स्टेशन के प्लेटफार्म का ही चक्कर लगाकर वापस लौट आता हूँ।

पन्द्रह-बीस दिन बाद एक दिन सायंकाल स्टेशन के प्लेटफार्म पर टहलने गया। स्टेशन के फाटक के प्लेटफार्म पर आने के बाद मैं बायीं तरफ जी. आर. पी. की चौकी की ओर बढ़ चला। किन्तु कुछ कदम ही चला था कि मेरा ध्यान रजुआ की ओर गया, जो मुझसे कुछ दूर आगे था। वह भी उधर ही जा रहा था। मुझे कुछ आश्चर्य नहीं हुआ, क्योंकि शहर से काफी लोग दिशा-मैदान के लिए कटहरनाला जाते थे, जो स्टेशन के पास ही बहता है। मैं धीरे-धीरे चलने लगा।

पर रजुआ कटहरनाला नहीं गया, बल्कि जी.आर.पी. की चौकी के पास कुछ ठिठककर खड़ा हो गया। अब मुझे कुछ आश्चर्य हुआ। क्या वह किसी मामले में पुलिसवालों के चक्कर में आ गया है! मेरी समझ में न आया और उत्सुकतावश मैं तेज चलने लगा। आगे बढ़ने पर स्थिति कुछ-कुछ समझ में आने लगी।

चौकी के सामने एक बेंच पर बैठे पुलिस के दो-तीन सिपाही कोई हँसी-मजाक कर रहे थे और उनके थोड़ी दूर पर नीचे एक नंगी औरत बैठी हुई थी। वह औरत और कोई नहीं, एक पगली थी, जो कई दिनों से शहर का चक्कर काट रही थी। उसको मैंने कई बार चौक में तथा एक बार सरयू के किनारे देखा था। उसकी उम्र लगभग तीस वर्ष होगी और वह बदसूरत, काली तथा निहायत गन्दी थी। वह जहाँ जाती, कुछ लफंगे 'हा-हू' करते उसके पीछे हो जाते। वे उसको चिढ़ाते, उस पर ईंट फेंकते और जब वह तंग आकर चीखती-चिल्लाती भागती तो लड़के उसके पीछे दौड़ते।

रजुआ उस पगली के पास ही खड़ा था। वह कभी शंकित आँखों से पुलिस वालों को देखता, फिर मुँह फैलाकर हँस पड़ता और मुटर-मुटर पगली को ताकने लगता। परन्तु पुलिसवाले सम्भवत: उसकी

ओर ध्यान न दे रहे थे।

मुझे बड़ी शर्म मालूम हुई, किन्तु मैं इतना समीप पहुँच गया था कि अचानक घूमकर लौटना न हो सका। इसके अलावा असली बात जानने की उत्सुकता भी थी। मैं शून्य की ओर देखता हुआ आगे बढ़ा, लेकिन लाख कोशिश करने पर भी उधर दृष्टि चली ही जाती।

रजुआ शायद पुलिसवालों की लापरवाही का फायदा उठाते हुए आगे बढ़ गया था और सिर नीचे झुकाकर अत्यन्त ही प्रसन्न होकर हँसते हुए पुचकारती आवाज में पूछ रहा था, ''क्या है पागलराम, भात खाओगी?''

इतने में पुलिसवालों में से एक ने कड़ककर प्रश्न किया, ''कौन है बे साला चलता बन, नहीं तो मारते-मारते भूसा बना दूँगा!''

रजुआ वहाँ से थोड़ा हट गया और हँसते हुए बोला, ''मालिक, मैं रजुआ हूँ।''

''भाग जा साले, गिद्ध की तरह न मालूम कहाँ से आ पहुँचा!'' सम्भवत: दूसरे सिपाही ने कहा और फिर वे सभी ठहाका मारकर हँस पड़े।

मैं अब काफी आगे निकल गया था और इससे अधिक मुझे कुछ सुनाई न पड़ा। मैं जल्दी-जल्दी प्लेटफार्म से बाहर निकल गया।

किन्तु मामला यहीं समाप्त नहीं हो गया। घर आकर मैंने आँगन में चारपाई डाल, बड़ी मुश्किल से आधा घंटा आराम किया होगा कि मेरी पत्नी भागती हुई और कुछ मुस्कुराती हुई तेजी से बोलीं, ''अरे, जरा जल्दी से बाहर आइये तो, एक तमाशा दिखाती हूँ हमारी कसम,

जरा जल्दी उठिये।''

मैं अनिच्छापूर्वक उठा और बाहर आकर जो दृश्य देखा उससे मेरे हृदय में एक ही साथ आश्चर्य एवं घृणा के ऐसे भाव उठे जिन्हें मैं व्यक्त नहीं कर सकता। रजुआ स्टेशन की नंगी पगली के आगे-आगे आ रहा था। पगली कभी इधर-उधर देखने लगती या बड़ी हो जाती तो रजुआ पीछे होकर पगली की अँगुली पकड़कर थोड़ा आगे ले जाता और फिर उसे छोड़कर थोड़ा आगे चलने लगता तथा पीछे घूम-घूमकर पगली से कुछ कहता जाता। इसी तरह वह पगली को सड़क की दूसरी ओर स्थित क्वार्टरों की छत पर ले गया। ये क्वार्टर मेरे मकान के सामने दूसरी पटरी पर बने थे और वे एक-दूसरे से सटे थे। उनकी छतें खुली थीं और उस मुहल्ले के लोग जाड़े में धूप लिया करते और गर्मी में रात को लावारिस लफंगे सोया करते थे।

तभी रजुआ नीचे उतरा, किन्तु पगली उसके साथ न थी। हम लोगों की उत्सुकता बढ़ गयी थी कि देखें, वह आगे क्या करता है। हम लोग वहीं खड़े रहे और रजुआ तेजी से स्टेशन की ओर गया और कुछ ही देर में वापस भी आ गया। इस बार उसके हाथ में एक दोना था। दोना लेकर वह ऊपर चढ़ गया और हम समझ गये कि वह पगली को खिलाने के लिये बाजार से कुछ लाया है।

इसके बाद दो-तीन दिन तक रजुआ को मैंने मुहल्ले में नहीं देखा। उस दिन की घटना से हृदय में एक उत्सुकता बनी हुई थी, इसलिए एक दिन मैंने अपनी पत्नी से पूछा, ''क्या बात है, रजुआ आजकल दिखाई नहीं देता। अब यहाँ नहीं आता क्या?''

पत्नी ने थोड़ा चौंककर उत्तर दिया, ''अरे आपको नहीं मालूम, उसको किसी ने बुरी तरह पीट दिया है और वह बरन की बहू के

यहाँ पड़ा हुआ है।''

''क्या, बात क्या है?'' मैंने अपनी उत्सुकता प्रकट किये बिना धीमे स्वर में पूछा।

पत्नी ने मुस्कुराकर बताया, ''अरे, वही बात है। रजुआ उस पगली को छत पर छोड़ नरसिंह बाबू के यहाँ काम करने लगा। नरसिंह बाबू की स्त्री बताती है कि वह उस दिन बड़ा गम्भीर था और काम करते-करते चहककर जैसे किलकारी मारता है, वैसे नहीं करता था। उसकी तबियत काम में नहीं लगती थी वह एक काम करता और मौका देख कोई बहाना बनाकर क्वार्टर की छत पर जाकर पगली का समाचार ले आता। नरसिंह बाबू की स्त्री ने जब उसे खाना दिया तो उसने वहाँ भोजन नहीं किया, बल्कि खाने को एक कागज में लपेटकर अपने साथ लेता गया। उसने वह खाना खुद थोड़े खाया, बल्कि उसको वह ऊपर छत पर ले गया। रात के करीब ग्यारह बजे की बात है। रजुआ जब ऊपर पहुँचा तो देखा कि पगली के पास कोई दूसरा सोया है। उसने आपत्ति की तो उसको उस लफंगे ने खूब पीटा और पगली को लेकर कहीं दूसरी जगह चला गया।''

''तुम्हें यह सब कैसे मालूम हुआ!'' मेरा हृदय एक अनजान क्रोध से भरा आ रहा था।

''बरन की बहू बता रही थी।'' पत्नी ने उत्तर दिया और अकारण ही हँस पड़ी।

× × ×

बहुत दिन हो गये थे। गर्मी का मौसम था और भयंकर लू चलना शुरू हो गयी थी। छत पर मार खाने के चार-पाँच दिन बाद रजुआ फिर

मुहल्ले में आकर काम करने लगा था। लेकिन उसमें एक जबर्दस्त परिवर्तन यह हुआ कि उसका स्त्रियों के हाथ छेड़खानी करके गधे की भाँति हिचकना-किलकना बन्द हो गया।

''रजुआ ने आजकल दाढ़ी क्यों रख छोड़ी है?'' मैंने पत्नी से पूछा।

रजुआ की बात छिड़ने पर मेरी बीवी अवश्य हँस देती। मुस्कुराकर उसने उत्तर दिया, ''आजकल वह भगत हो गया है। बरन की बहू को उसके कृत्य की सजा देने को उसने दाढ़ी बढ़ा ली है, और रोजाना शनीचरी देवी पर जल चढ़ाता है।''

मेरे प्रश्नसूचक दृष्टि से देखने पर पत्नी ने अपनी बात स्पष्ट की, ''बात यह है कि रजुआ पिछले कुछ महीनों से रात को बरन की बहू के यहाँ ही सोता था और उससे बुआ का रिश्ता भी उसने जोड़ लिया था। रजुआ दो-चार जो कुछ कमाता, वह अपनी बुआ के यहाँ जमा करता जाता। वह बताता है कि इस तरह करते-करते दस रुपये तक इकट्ठे हो गये हैं। एक बार बरन की बहू से अपने रुपये माँगे तो वह इनकार कर गयी कि उसके पास रजुआ की एक पाई भी नहीं। रजुआ के दिल को इतनी चोट लगी कि उसने दाढ़ी रख ली। वह कहता है कि जब तक बरन की बहू को कोढ़ न फूटेगा, वह दाढ़ी न मुड़ायेगा। इसी काम के लिए वह शनीचरी देवी पर रोज जल चढ़ाता है।''

शनीचरी देवी का जहाँ तक सम्बन्ध है, मुझे अब ख्याल आया। शनीचरी अपने जमाने की एक प्रचंड डोमिनी थी। ताड़का की तरह लम्बी-तगड़ी और लड़ने-झगड़ने में उस्ताद। वह किसी से भी नहीं डरती थी और नित्य ही किसी-न-किसी से मोर्चा लेती थी। एक बार लड़ाई में एक डोम ने शनीचरी की खोपड़ी पर एक लट्ठ जमा

दिया, जिससे उसका प्राणान्त हो गया, लेकिन एक डेढ़ हफ्ते बाद ही उस डोम के चेचक निकल आयी वह मर गया और लोगों ने उसकी मृत्यु का कारण शनीचरी देवी का प्रकोप समझा। डोमों ने श्रद्धा में उसका चबूतरा बना दिया और तब से वह जातियों में शनीचरी देवी के नाम से प्रसिद्ध हो गयी थीं।

मैं कुछ नहीं बोला, लेकिन पत्नी ने सम्भवत: कुछ उदास स्वर में कहा, ''उसको आजकल थोड़ा बुखार रहता है। उसका विश्वास है कि बरन की बहू ने उस पर जादू-टोना कर दिया है। वह कहता है कि शनीचरी बहुत चलती देवी हैं, अरे, एक महीने में ही बरन की बहू फूट-फूटकर मरेगी।''

पता नहीं, उसका ज्वर टूटा कि नहीं। मैंने जानने की कोशिश भी नहीं की। बीमार तो वह सदा ही का था। सोचा, शायद उतर गया हो, क्योंकि काम तो वह उसी तरह कर रहा था। हाँ, बीच में उसके चेहरे पर जो चुस्ती और खुशी चमक-चमक उठती, वह तिरोहित हो गयी थी। न वह उतना उचकता था न उतना बोलता था। अपेक्षाकृत यह अधिक गम्भीर और सुस्त हो गया।

उसकी रुचि धर्म की ओर मुड़ गयी और शनीचरी देवी की मन्नत मानते वह अच्छा-भला भगत बन बैठा।

मेरे घर के सामने सड़क की दूसरी ओर क्वार्टर में एक पंडितजी रहते हैं। यों तो वह लकड़ियाँ बेचते हैं, लेकिन साथ-साथ सत्तू-नमक तेल वगैरह भी रखते हैं। फलस्वरूप उनके यहाँ इक्के-ताँगे वालों और गाड़ीवानों की भीड़ लगी रहती है, जो पंडितजी के यहाँ से सत्तू लेकर अपनी भूख मिटाते हैं और उनकी दुकान के छायेदार नीम के नीचे पाँच—दस मिनट विश्राम करते हुए ठट्ठा-मजाक भी करते हैं।

रात को वहीं उनकी मजलिस लगती है।

उस रात गर्मी इतनी थी कि आँगन में दम घुटा जा रहा था। मैं खाने के पश्चात् चारपाई को घसीटते हुए लगभग सड़क के किनारे ले गया। उमस तो वहाँ भी थी, पर अपेक्षाकृत शान्ति मिली।

मुझे लेटे हुए अभी दो-चार मिनट ही बीते होंगे कि पण्डितजी की दुकान से आती हुई आवाज सुनाई पड़ी, ''तो का हो रज्जू भगत-गोसाईं जी का कह गये हैं? महाबीर जी समुन्दर में कूदते हैं तो ताड़का महारानी का कहती हैं?''

''सुनो-सुनो,'' प्रश्नकर्ता की बात के उत्तर में रजुआ (शायद वह भगत कहलाने लगा था) तत्काल जोश से ऐसे बोला जैसे आशंका हो कि यदि वह देर कर देगा तो कोई दूसरा ही बता देगाकृ''बजरंगबली बड़े जबर थे। वह समुन्दर में कुछ दूर तक तैर लेते हैं तो उनको ताड़का महारानी मिलती हैं। ताड़का महारानी अपना रूप दिखाती हैं तो बजरंगबली किससे कम हैं? ये मियाँ एढ़े तो हमसे-तुमसे ड्योढ़े, बजरंगबली भी उतने ही बड़े हो जाते हैं। इसके बाद ताड़का महारानी और बड़ी हो जाती हैं तो बजरंगबली मच्छर बनकर ताड़का महारानी के कान से बाहर निकल आते हैं।''

''तो ए रज्यू भगत, गान्ही महात्मा भी तो जेहल से निकल आते हैं?'' किसी दूसरे ने पूछा।

रजुआ ने और जोर से बताया, ''सुनो-सुनो, गान्ही महात्मा को सरकार जब जेहल में डाल देती है तो एक दिन क्या होता है कि सभी सिपाही-प्यादा के होते हुए भी गान्ही महात्मा जेहल से निकल आते हैं और सबकी आँखों में पट्टी बँधी रह जाती है। गान्ही महात्मा सात

समुन्दर पार करके जब देहली पहुँचते हैं तो सरकार उन पर गोली चलाती है। गोली गान्ही महात्मा की छाती पर लगकर सौ टुकड़े हो जाती है और गान्ही महात्मा आसमान में उड़ कर गायब हो जाते हैं।''

इसके पूर्व महात्मा गांधी की मृत्यु का ऐसा दिलचस्प किस्सा मैंने कभी नहीं सुना था, यद्यपि गांधीजी की मृत्यु हुए चार वर्ष गुजर गये थे।

उसकी दाढ़ी जैसे-जैसे बढ़ती गयी, रजुआ के धर्म प्रेम का समाचार भी फैलता गया। निचले तबके के लोगों में अब वह 'रज्जू भगत' के नाम से पुकारा जाने लगा। बड़े लोगों में भी कोई-कोई हँसी-मजाक में उसको इसी नाम से सम्बोधित करता, लेकिन उनके कहने पर वह शरमाकर हँसते हुए चला जाता, पर छोटी जातियों के समाज में वह कुछ-न-कुछ ऐसी कह गुजरता जो सबसे अलग होती। अकसर उनकी मजलिसें रात को पंडित जी की दुकान के आगे जमतीं और रजुआ उनसे राम-सीताजी की चर्चा करता, भूत-प्रेत, बरनडीह के महत्त्व पर प्रकाश डालता और झाड़-फूँक, मंत्र-जप की महत्ता समझाता। वे नाना प्रकार की शंकाएँ प्रकट करते और रजुआ उनका समाधान करता।

लेकिन इतनी धार्मिक चर्चाएँ करने, शनीचरी देवी पर जल चढ़ाने तथा दाढ़ी रखने के बावजूद उसकी मनोकामना पूरी न हुई।

× × ×

शाम को दफ्तर से लौटा ही था कि बीवी ने चिन्तातुर स्वर में सूचना दी, ''अरे, जानते नहीं, रजुआ को हैजा हो गया है।''

उन दिनों गर्मी अपनी चरम सीमा पर थी और गड्ढे तथा बमपुलिस की गली में, जो शहर के अत्यधिक गंदे स्थान थे, हैजे की कई घटनाएँ हो गयी थीं। मुझे आश्चर्य नहीं हुआ, क्योंकि रजुआ को हैजा

न होता तो और किसको होता।

''जिन्दा है या मर गया?'' मैंने उदासीन स्वर में पूछा।

मेरी पत्नी ने अफसोस प्रकट करते हुए कहा, ''क्या बताएँ, मेरा दिल छटपटाकर रह गया। वहीं खँडहर में पड़ा हुआ है। कै-दस्त से पस्त हो गया है। लोग बताते हैं कि आध-एक घंटे में मर जायेगा।''

''कोई दवा-दारू नहीं हुई?''

''कौन उसका सगा बैठा है जो दवा-दारू करता। शिवनाथ बाबू के यहाँ काम कर रहा था, पर जहाँ उसको एक कै हुई कि उन लोगों ने उसको अपने यहाँ से खदेड़ दिया। फिर वह रामजी मिश्र के ओसारे में जाकर बैठ गया, लेकिन जब उन लोगों को पता लगा तो उन्होंने भी उसको भगा दिया। उसके बाद वह किसी के यहाँ नहीं गया, जाकर खँडहर में पेड़ के नीचे पड़ गया।''

मैंने जैसे व्यंग्य किया, ''तुमने अपने यहाँ क्यों न बुला लिया?''

पत्नी को यह आशा नहीं थी कि मैं ऐसा प्रश्न करूँगा, इसलिए स्तम्भित होकर मुझे देखने लगी। अन्त में बिगड़कर बोली, ''मैं उसे यहाँ बुलाती, कैसी बात करते हैं आप। मेरे भी बाल बच्चे हैं, भगवान न करे, उनको कुछ हो गया तो?''

मैं हँस पड़ा, फिर उठ खड़ा हुआ। ''जरा देख आऊँ,'' दरवाजे की ओर बढ़ता हुआ बोला।

''आपके पैरों पड़ती हूँ, उसको छुइएगा नहीं और झटपट चले आइएगा।'' पत्नी गिड़गिड़ाने लगी।

जब मैं खँडहर में पहुँचा तो दो-तीन व्यक्ति सड़क के किनारे खड़े होकर रजुआ को निहार रहे थे। वे मुहल्ले के नहीं, बल्कि रास्ते चलते मुसाफिर थे, जो रजुआ की दशा देखकर अकर्मण्य दया एवं उत्सुकता से वहाँ खड़े हो गये थे।

''रजुआ?'' मैंने निकट पहुँचकर पूछा।

लेकिन उसको किसी बात की सुध-बुध न थी। वह पेड़ के नीचे एक गन्दे अँगोछे पर पड़ा हुआ था और उसका शरीर कै-दस्त से लथपथ था। उसकी छाती की हड्डियाँ और उभर आयी थीं, पेट तथा आँखें पिचककर धँस गयी थीं, और गालों में गड्ढे बन गये थे। उसकी आँखों के नीचे भी गहरे काले गड्ढे दिखाई दे रहे थे और उसका मुँह कुछ खुला हुआ था। पहले देखने से ऐसा मालूम होता था कि वह मर गया है, लेकिन उसकी साँस धीमे-धीमे चल रही थी।

मैं कुछ निश्चय न कर पा रहा था, क्या किया जाए कि मालूम नहीं कहाँ से शिवनाथ बाबू मेरी बगल में आकर खड़े हो गये और धीरे से उन्होंने अपनी सम्मति भी प्रकट की, ''ही कान्ट सरवाइचकृयह बच नहीं सकता।''

मैंने तेज दृष्टि से उसको देखा। शिवनाथ बाबू पर तो मुझे गुस्सा आ ही रहा था, लेकिन अपने ऊपर भी कम झुँझलाहट न थी। कभी जी होता था कि जाकर घर बैठ रहूँ, जब और लोगों को मतलब नहीं तो मुझे ही क्या पड़ी है। लेकिन उसे यों अपनी आँखों के सामने मरते हुए नहीं देखा जाता था। पर मैं उसका इलाज भी क्या करवा सकता था? मैं लगभग सौ रुपये वेतन पाता था, इसके अलावा महीने का अन्तिम सप्ताह था, मेरे पास एक भी पाई नहीं थी। पर उसे अस्पताल भी तो भिजवाया जा सकता है? अचानक मन में विचार

कौंधा, मेरी झुँझलाहट जैसे अचानक दूर हो गयी और मैं घूमकर तेजी से अस्पताल रवाना हो गया।

अस्पताल पहुँचकर मैंने सम्बन्धित अधिकारियों को सूचित किया। वहाँ से अस्पताल की मोटरगाड़ी पर बैठकर मैं स्वयं साथ आया। रजुआ की साँस अब भी चल रही थी। अस्पताल के दो मेहतरों ने, जो साथ आये थे, उसको खींचकर गाड़ी पर लाद दिया। जब गाड़ी चली गयी तो मैंने संतोष की साँस ली जैसे मेरे सिर से कोई बड़ा बोझ हट गया हो।

सबकी यही राय थी कि रजुआ बच नहीं सकता परन्तु वह मरा नहीं। यदि अस्पताल पहुँचने में थोड़ा भी विलम्ब हो गया होता तो बेशक काल के गाल से उसकी रक्षा न हो पाती। अस्पताल में वह चार-पाँच दिन रहा, फिर वहाँ से बर्खास्त कर दिया गया।

किन्तु उसकी हालत बेहद खराब थी। वह एकदम दुबला-पतला हो गया था। मुश्किल से चल पाता और जब बोलता तो हाँफने लगता। न मालूम क्यों, वह अस्पताल से सीधे मेरे घर ही आया। यद्यपि मेरी पत्नी को उसका आना बहुत बुरा लगा, लेकिन मैंने उससे कह दिया कि दो-चार दिन उसे पड़ा रहने दें, फिर वह अपने-आप ही इधर-उधर आने-जाने तथा काम करने लगेगा।

वह चार-पाँच दिन रहा, खाने को कुछ-न-कुछ पा ही जाता। वह कोई-न-कोई काम करने की कोशिश करता, पर उससे होता नहीं। किसी को घर में बैठा कर मुफ्त खिलाना मेरी श्रीमती को बहुत बुरा लगता था, परन्तु सबसे बड़ा भय उनको यह था कि उसके रहने से घर में किसी को हैजा-वैजा न हो जाए।

और एक दिन घर आने पर रजुआ नहीं दिखाई पड़ा। पूछने पर बीवी ने बताया कि वह अपनी तबीयत से पता नहीं कब कहाँ चला गया।

वह कहीं गया न था, बल्कि मुहल्ले ही में था। लेकिन अब वह बहुत कम दिखाई पड़ता। मैंने उसको एक-दो बार सड़क पर पैर घिसट-घिसट कर जाते हुए देखा। सम्भवत: वह अपना पेट भरने के लिए कुछ-न-कुछ करने का प्रयत्न कर रहा था।

और फिर एक दिन मैंने उसे खँडहर में पुन: पड़ा पाया।

शिवनाथ बाबू अपने दरवाजे पर बैठ अपने शरीर में तेल की मालिश कर रहे थे। मैंने उनसे जाकर नमस्कार करते हुए प्रश्न किया, ''रजुआ खँडहर में क्यों पड़ा हुआ है? उसे फिर हैजा हुआ है क्या!''

शिवनाथ बाबू बिगड़ गये, ''गोली मारिए साहब, आखिर कोई कहाँ तक करे? अब साले के खुजली हुई है। जहाँ जाता है, खुजलाने लगता है। कौन उससे काम कराये! फिर काम भी तो वह नहीं कर सकता। साहब, अभी दो-तीन रोज की बात है, मैंने कहा एक गगरा पानी ला दो, गया जरूर, लेकिन कुएँ से उतरते समय गिर गये बच्चू। पानी तो खराब हुआ ही, गगरा भी टूट पिचक गया। मैंने तो साफ-साफ कह दिया कि मेरे घर के अन्दर पैर न रखना, नहीं तो पैर तोड़ दूँगा। गरीबों को देखकर मुझे भी दया-माया सताती है, पर अपना भी देखना है।

मैं कुछ नहीं बोला और चुपचाप घर लौट आया। इस बार मेरी हिम्मत नहीं हुई कि जाकर उसे देखूँ या उससे हालचाल पूछूँ।

घर आकर मैंने पत्नी से पूछा, ''तुमने रजुआ से कुछ कहा-सुना तो नहीं था?'' मुझे शक था कि बीवी ने ही उसको भगा दिया होगा

और इसलिए वह मेरे घर नहीं आता। मेरी बात सुनकर श्रीमतीजी अचकचाकर मुझे देखने लगीं, फिर तिनककर बोली, ''क्या करती, रोग को पालती? कोई मेरा भाई-बन्धु तो नहीं।''

मैं क्या कहता?

रजुआ को भयंकर खुजली हो गयी थी, लेकिन उसने मुहल्ला नहीं छोड़ा। वह अकसर खँडहर में बैठकर अपने शरीर को खुजलाता रहता। खाने की आशा में वह इधर-उधर चक्कर भी लगाता। कभी-कभी वह मेरे घर के सामने लकड़ी वाले पण्डित के यहाँ आता और पण्डितजी थोड़ा सत्तु देते। मैंने भी एक-दो बार अपने लड़के के हाथ खाना भिजवा दिया। इस तरह उसके पेट का पालन होता रहा। उसका चेहरा भयंकर हो गया थाकृएकदम पीला और हाथ-पैर जली हुई रस्सी की तरह ऐंठे हुए। वह बाहर कम ही निकलता और जब निकलता तो उसको देखकर एक अजीब दहशत-सी लगती, जैसे कोई नरकंकाल चल रहा हो।

× × ×

आषाढ़ चढ़ गया था और बरसात का पहला पानी पड़ चुका था। शनिवार का दिन, सबेरे लगभग आठ बजे मैं दफ्तर का काम लेकर बैठ गया। लेकिन तबीयत लगी नहीं। बाहर नाली में वर्षा का पानी पूरे वेग से दौड़ रहा था और शरीर पर पुरवाई के झोंके आ लगते, जिससे मैं एक मधुर सुस्ती का अनुभव कर रहा था मैंने कलम मेज पर रख दी और कुर्सी पर सिर टेककर ऊँघने लगा।

यदि एक आहट ने चौंका न दिया होता तो मैं सो भी जाता। मैंने आँखें खोलकर बाहर झाँका। बाहर ओसारे में खड़ा एक तेरह-चौदह

वर्ष का लड़का कमरे में झाँक रहा था। लड़के के शरीर पर एक गन्दी धोती थी और चेहरा मैला था।

मुझे सन्देह हुआ कि वह कोई चोर-चाई है, इसलिए मैंने डपटकर पूछा, ''कौन है रे, क्या चाहता है?''

लड़का दुबककर कमरे में घुस आया और निधड़क बोला, ''सरकार, रजुआ मर गया। उसी के लिए आया हूँ।'' अन्त में हँस पड़ा।

''मर गया? कब मरा! कहाँ मरा?'' मैंने साश्चर्य मुँह बाकर एक ही साथ उससे कई प्रश्न किये।

लड़के ने फिर हँसते हुए कहा, ''हाँ सरकार, मर गया। मालिक, इस कारड पर उसके गाँव एक चिट्ठी लिख दीजिये।''

मैंने इसके आगे रजुआ के सम्बन्ध में कुछ न पूछा। मैं अचानक डर गया कि यदि मैंने मामले में अधिक दिलचस्पी दिखाई तो हो सकता है कि मुझे उसकी लाश फूँकने का भी प्रबन्ध करना पड़े।

लड़के के हाथ में एक पोस्टकार्ड था, जिसको लेते हुए मैंने सवाल किया, ''इस पर क्या लिखना होगा? उसके गाँव का क्या पता है!''

''मालिक, रामपुर के भजनराम बरई के यहाँ लिखना होगा? लिख दीजिए गोपाल मर गया।'' लड़के की आवाज कुछ ढीठ हो गयी थी।

''गोपाल!''

''जी वहाँ तो उसका यही नाम है।''

मैंने पोस्टकार्ड पर तेजी से मजमून तथा पता लिखा और पत्र को

लड़के के हवाले कर दिया।

मैंने लड़के से पूछना चाहा कि तू कौन है? रजुआ कहाँ मरा? उसकी लाश कहाँ है? परन्तु मैं कुछ नहीं पूछ सका जैसे मुझे काठ मार गया हो।

सच कहता हूँ, रजुआ की मृत्यु का समाचार सुनकर मेरे हृदय को अपूर्व शान्ति मिली, जैसे दिमाग पर पड़ा हुआ बोझ हट गया हो। उसको देखकर मुझे सदा घृणा होती थी और कभी-कभी यह सोचकर कष्ट होता था कि इस व्यक्ति ने सदा ऐसे प्रयास किये, जिससे इसको भीख न माँगनी पड़े और उसको भीख भी माँगनी पड़ी है, तो इसमें उसका दोष कतई नहीं रहा। मैंने उसकी दशा देखकर कई बार क्रोध वश सोचा कि यह कमबख्त एक ही मुहल्ले से क्यों चिपका हुआ है? घूम-घूमकर शहर में भीख क्यों नहीं माँगता? मुझे कभी-कभी लगता है कि वह किसी का मुहताज न होना चाहता था और इसके लिए उसने कोशिश की भी जिसमें वह असफल रहा। चूँकि वह मरना न चाहता था, इसलिए जोंक की तरह जिन्दगी से चिमटा रहा। लेकिन लगता है, जिन्दगी स्वयं जोंक-सरीखी उससे चिमटी थी और धीरे-धीरे उसके रक्त की अन्तिम बूँद तक पी गयी।

× × ×

रजुआ को मरे तीन-चार दिन हो गये थे। सारे मुहल्ले में यह समाचार उसी दिन फैल गया था। मुहल्ले वालों ने अफसोस प्रकट किया और शिवनाथ बाबू ने तो यहाँ तक कह डाला कि जो हो, आदमी वह ईमानदार था।

रात के करीब आठ बजे थे और मैं अपनी बाहरी ओसारे में बैठा

था। आसमान में बादल छाये थे और सारा वातावरण इतना शान्त था जैसे किसी पड्यंत्र में लीन हो। बगल की चौकी पर धुँधली लालटेन कभी-कभी चकमक कर उठती और उसके चारों ओर उड़ते पतंगे कभी कमीज के अन्दर घुस जाते जिससे तबीयत एक असह्य खीझ से भर उठती।

मैं भीतर जाने के उद्देश्य से उठा कि सामने एक छाया देखकर एकदम डर गया। रजुआ की शक्ल का नर-कंकाल भीतर चला आ रहा था। सच कहता हूँ यदि मैं भूत-प्रेत में विश्वास करता तो चिल्ला उठता, 'भूत-भूत!' मैं आँखें फाड़-फाड़कर देख रहा था। नर—कंकाल धीरे-धीरे घिसटता बढ़ा आ रहा था। यह तो रजुआ ही थाकृठठरी मात्र! क्या वह जिन्दा है?

वह मेरे निकट आ गया। सम्भवत: मेरी परेशानी भाँपकर बोला, ''सरकार, मैं मरा नहीं जिन्दा हूँ।'' अन्त में वह सूखे होंठों से हँसने लगा।

''तब वह लड़का क्यों आया था?'' मैंने गम्भीरतापूर्वक प्रश्न किया।

उसने पहले दाँत निपोर दिये, फिर बोला, ''सरकार, वह गुदड़ी बाजार के बचनराम का लड़का है। मैंने ही उसको भेजा था। बात यह हुई सरकार, कि मेरे सिर पर एक कौवा बैठ गया था। हजूर, कौवे का सिर पर बैठना बहुत अनसुम माना जाता है। उससे मौअत आ जाती है।''

''फिर गाँव पर चिट्ठी लिखने का क्या मतलब है?'' मेरी समझ में अब भी कुछ न आया था।

उसने समझाया, ''सरकार, यह मौअतवाली बात किसी सगे सम्बन्धी

के यहाँ लिख देने से मौअत टल जाती है। भजनराम बरई मेरे चाचा होते हैं। मालिक, एक और कारड है, इस पर लिख दें सरकार, कि गोपाल जिन्दा है, मरा नहीं।

मैंने पूछना चाहा कि तू क्यों नहीं आया, लड़के को क्यों भेज दिया। लेकिन यह सब व्यर्थ था। सम्भवत: उसने सोचा हो कि उसका मतलब कोई न समझे और लोग बात को मजाक समझकर कहीं दुरदुरा न दें।

मैंने पोस्टकार्ड लेकर उस पर उसकी इच्छानुसार लिख दिया।

पोस्टकार्ड लौटाते समय मैंने उसके चेहरे को गौर से देखा। उसके मुख पर मौत की भीषण छाया नाच रही थी और वह जिन्दगी से जोंक की तरह चिमटा थाकृलेकिन जोंक वह था या जिन्दगी? वह जिन्दगी का खून चूस रहा था या जिन्दगी उसका?कृमैं तय न कर पाया।

इति

*

गीतांजलि श्री

मौत को लेकर हम आतंकित थे कि जब वह आदमी मरेगा तो यह सारी झंझट होगी कि क्या कहाँ कैसे कब। टुकड़े अस्त-व्यस्त बिखरे। मौत के सारे अनजानपन को देखते हुए। उनके सारे टूटे-फूटेपन को देखते हुए। उनके, हमारे बाप के। और यह भी उलझा मसला कि कौन कहेगा, किससे, कैसे, उन सारी 'दुश्मनियों' के रहते, मेरी भाई से, पति की बहन से, भाभी की जीजा से, माँ की सब बहुओं दामादों से, जिनके चलते हमारा आपस में आना-जाना बन्द था। बरसों से। एक दूसरे की झुर्रियाती शक्लों को लगभग न पहचानने की नौबत तक, जब भूले और भटके कहीं सामना हो जाता, दुकान पे, रेस्त्रां में, कभी ट्रैफिक की लाल बत्ती पर खड़े।

बरसों से। हमने एक दूसरे को नहीं देखा था। महान भारतीय परिवार। घनिष्ठ, अंतरंग, संयुक्त। देखा था सबको बुढ़ाते किसी ने तो अकेले पिताजी ने ही जिन्हें इसे या उसे या किसी को भी देखने से आपत्ति नहीं थी और जो इसकी या उसकी या किसी की भी देखभाल में रहने हमारी मोटर गाड़ियों में ड्राइवर के साथ टटके चले जाते।

हाँ ऐसा हो सकता तो वह खुद हमें अपनी मौत की खबर दे सकते थे पर ऐसा तो होता नहीं। हमारे ड्राइवरजन भी दे सकते थे। जरूरत पड़ने पर।

हुआ ये कि ऐसी जरूरत ही नहीं पड़ी। सब अपने आप होता चला गया। जैसे एक सलीके का झटका दिया हो और कालीन सफाई से बिछता चला जाए। जैसे बखूब रिहर्सल के बाद सधा-सधाया नाटक खेला जाए। जैसे बिखरे टुकड़े जुड़ते चले जाएँ और पूरा सिलसिलेवार चित्र उभर आए।

पिता बहन के यहाँ थे जिससे मेरी कुट्टी नहीं थी, जिसके संग माँ रहने को राजी थीं क्योंकि दामाद जी दौरे पर गए हुए थे। और माँ की पूँछ की तरह पिता जी, पीछे-पीछे, उन घरों में जहाँ बहू दामाद लापता हों!

सारे दिन वे अपने जैसे ही रहे। फूहड़। बेढब। घिसट-घिसट इस कमरे से उस, अपनी रबड़ चप्पलों में पाँव आधा धँसाये, आधा लटकाए, और पजामे को बार-बार हाथों से ऊपर सँभालते, बार-बार उसके अधखुले नारे की पूरा खुल जाने की जिद को पछाड़ते। खट-खट उन्होंने बहन के कमरे के बाहर मचा दी जब अभी अँधेरा ही था और मचाए रखी जब तक उसने सोने का नाटक बन्द न कर दिया और झल्ला के दरवाजा न खोल दिया।

घर भर की बत्तियाँ जगमग-जगमग।

है क्या, उसने फटकारा। सवेरा, वे बोले, और चाय चाहिए। रात है, देख नहीं रहे अँधेरा, उसने और डाँट लगाई। उजाला है, उन्होंने इशारे से दिवाली-या घर दिखाया, और तीन बज गया जो सवेरा है।

जाइए, सो जाइए, उसने झाड़ा, और किसी को मत जगाइए और कोई बत्ती नहीं जलाइए सात के पहले।

भले घर का कोई उसके पहले नहीं उठता, उसने आखिरी मारा। वह जुमला जो हम उन पर अक्सर मारते, उनकी वृद्ध कुलाचों पर। वह जुमला जो उन्हीं की ईजाद थी, उनके और हमारे युवा दिनों की हमको उनकी हिदायत कि भले घर का कोई ऐसा नहीं करता, जैसे लड़कियाँ लड़कों से दोस्ती करें और वापस!

पर कौन वे बात मानने के लिए पैदा हुए थे? न हम। वे हमेशा ऐसे रहे कि दुनिया पैदा हुई है उनकी सेवा करने के लिए। तो जुटे रहे, जगे रहे, फिरते रहे, बहन के दोबारा दरवाजा टाइट बन्द करने के बाद भी और माँ की भन-भन के बाद भी कि यही हैं इनकी स्वार्थी झक्खी आदतें, जो वजह है उसकी बच्चों के संग रिश्तों में कलह और खटास की, कि निरन्तर शर्मिन्दा होना पड़ता है उसे, कि जहाँ नहीं जलानी हो बत्ती जला देंगे, जहाँ नहीं बुझाना हो पंखे बन्द कर देंगे और सबको जगा देंगे, जो कामकाजी लोग हैं और सो रहे हैं और उनकी तरह बेकार और बेकाम नहीं, और बस उनकी ये सब न हो तो, वह भनभनाती।

ठेपी पड़े कानों पर। या एक से जाकर दूसरे से निकल जाने के लिए। जिस अन्तर्यात्रा के दौरान वे सिर यों ओ हो हो हो हिलाते जैसे तंग आ गए हों, पर आँखें उनकी फर फर चमकतीं, प्रफुल्ल अपने इस होने पर, जीने पर, अपने होने जीने के एहसास को खुद भी, दूसरों को भी, कराने पर।

घूमे वे छोटी-मोटी सैर पर अँधेरे में जो भोर थी, जिन्दा और फड़कते, और जरूर ही मूतते भी गाड़ियों की बोनेट पर, उस इमारत में रहनेवालों

की, जो आए दिन चौकीदार से शिकायत भेजते अपनी मोटरों की इस बिनबुलाई धुलाई पर, माँ तक, जो छोटा-सा कुछ क्षमा याचना में कहती, लम्बा-सा कुछ झुँझलाने में, उस सारे दिन फिर।

तो जब आखिरकार माँ और बहन के लिए भी सवेरा हो गया, कुछ नया नहीं था उस दिन में वरन् सब कुछ वही पुराना उन्हीं की तरह। उन्होंने नौकरों को जगा लिया था, चाय पी ली थी, नाश्ता बनवा लिया था और वैसे ही लदड़ फदड़ बैठे थे पजामे पर अब भी गिलाई भरे, नाखूनों में अब भी कालिख भरे, जो अब भी बढ़ रहे थे।

मेरे नाखून काट सकती हो प्लीज, उन्होंने बहन से पूछा, जिसे अनायास इस टूटे बिखरे आदमी पर तरस आ गया जो उसके बाप थे और जिन्होंने अपने सारे बढ़िया दिन बदमिजाजी और तानाशाही में बिताए थे और अपने नाखून अपने मातहतों से कटवाने में और पत्नी पर हुक्म चलाने में। हालाँकि वह उस दयनीय मुद्रा और प्लीज का स्वर ओढ़ने की मक्कारी खूब पहचानती थी।

और अब मेरा गुसल, उन्होंने हुकुम चलाया जो उनका जन्मसिद्ध अधिकार था, जिसे पालना सबका एकमात्र कर्तव्य। जिसका मतलब था उनके लिए गरम पानी बाल्टी में भरना और उसके पहले कप में जरा सा हजामत के लिए रख देना, ताकि वे पुराने तरीके से ब्रश फच्च-फच्च चलाके दाढ़ी बनाएँ और उनके लिए साफ कमीज, पतलून, बनियान, जाँघिया, बिस्तर पर तैयार रख देना। जो काम शुरू से माँ करती आई थी और अब भी, पर अब निरी शिकायतों और चेतावनियों के साथ कि वे याद रखें अभी वक्त नहीं हुआ है और बस उन्हें है कि आगे-पीछे सब उनकी परछाई की तरह नाचते रहें और नहाते ही वे माँगेंगे खाना और बस हर वक्त चाहिए उन्हें खाना खाना खाना और फिर बहेगा उनका पेट और सफाई उसे ही

करनी है जैसे उसी के लिए वह है और वैसे उन्हें क्या पड़ी और कब पड़ी कि किसलिए वह है किसलिए नहीं।

घड़ी देख लें और बारह के पहले पानी न माँगें और डेढ़ के पहले खाना नहीं, उसने पिलाई।

है कहाँ मेरी घड़ी, वे शुरू हो गए अपने अगले शगल पर, रोज के, खुश कि लो फिर मिला जीवन में मकसद और दिया भी सबको—घड़ी-तलाश।

ले दे के वे खुश-खुश इन्सान थे। ये हमने कहा जब वे चले गए। पर पहले हम यही कहते कि बैठे रहते हैं बेकार, बेढंगे, बेढब, खुचड़ई, खूसट, अस्त-व्यस्त, अड़चन बने, किसी के लिए कुछ न करते और हर किसी से अपने लिए कुछ-न-कुछ कराते और बस केवल चिड़चिड़े-चिड़चिड़े।

जो वे नहीं थे। हम थे। वे—बाद में हमने कहा—अच्छे भले फिट थे अपने क्यों-इतना-सोते हो-तुम-सब-उठो-मुझे-चाय-चाहिए और कहाँ-है—मेरी-घड़ी-और-कहाँ-है-मेरा-बटुआ में।

यह भी एक मजाक। या उत्पात। असल तो उनका जीवन हमारे लिए या तो यह था या वह या दोनों गुँथे पड़े। मजाक और उत्पात।

उनका बटुआ। जो वे कभी नहीं खोते थे। और कुर्ता उतार के कमीज पहन के और पतलून उतार के पजामा चढ़ा के दो पल बस गँवाते उसे इधर से उधर फिर इधर खिसकाने में, पर जिसे खो देने, गिरा देने, लुटवा लेने के दु:स्वप्न वे बारम्बार देखते। हमेशा वह उनकी जेब में सँभला रहता मय उनके नाम पते के कि क्या मालूम कब, और मय सौ रुपिल्ले के जो शुरू होता था बतौर कागज के

नोट के और फिर छोटा होता जाता सिक्कों में बदलते हुए, उतनी ही तेजी से जितनी तेज़ी से वे जलेबियाँ पकौड़ियाँ खाते रहते, उन बाजारों खोमचों से खरीद कर जो हमारे घरों के आसपास होते ही होते और उनके लिए निषिद्ध होते, इसलिए वे खनखनाते सिक्कों की बढ़ती तादाद को दबाए रखते कि हमें पता न चल जाए। जो कस के न दबाए रख पाते वह होता उनका पेट, जिसके खुलते ही सारी निषिद्धता बेकाबू खुले में फिसल आती। माँ सफाई करती और झिझकार पिलाती और उन्हें हमेशा सच। बोलने को कहती। वे बोलते भी। सच। नन्हें बालक की तरह। कि तबियत ठीक नहीं लग रही और हाँ कुछ कचौड़ियाँ याद आ रही हैं खाई तो थीं और क्या मैं मर रहा हूँ? हम सच्चे मन से उन्हें सान्त्वना देते, नहीं, पर ऐसा फिर मत करिएगा वरना मर भी सकते हैं।

हम सबने कोशिश की थी कि उन्हें सौ रुपए न दें। देखो एक फूटी कौड़ी नहीं इसमें, वे शुरू करते, बटुआ कितना खाली है दिखा कर। फिर बन्द ही न करते कि कैसी घबराहट होती है, असुरक्षा का भाव आ घेरता है कि कुछ भी हो सकता है अकेले सड़क पर, रिक्शा भी नहीं ले पाऊँगा रास्ता भटक गया तो, न ट्रेन ले पाऊँगा बनारस के लिए जहाँ जाना है, न प्रसाद खरीद पाऊँगा हनुमान जी के लिए जिनके दर्शन के लिए वह हर मंगलवार को मन्दिर जाते हैं, और क्या यह बड़ी फख्र की बात है कि किसी का सारा पैसा उसके बुढ़ापे में छीन लो? चौकीदार को सुनाते, पड़ोसियों को सुनाते, लिफ्ट में साथ चलते अजनबियों को भी सुनाते। कि मुझे पैसा ही नहीं देते सब, न खाने को कुछ। हममें से कोई गुस्साता, कोई झेंपता और एक न एक हममें से—अक्सर माँ—ठन जाती कि होना ही चाहिए सौ रुपए का नोट उनके बटुवे में। यह देखिए, रख रहे हैं सौ रुपए इसमें, यह देखिए रख दिया, हम बताते, पर खर्चिएगा नहीं उन सड़ी

गली मिठाइयों नमकीन पर, खराब तेल में तले, जो आपको बीमार करते हैं, हमसे कहिएगा, हम सादा साफ अच्छा घर पर बनवा देंगे।

सवाल ही नहीं उठता, वे सम्पन्न बटुआ जेब में रखते, वैसा कुछ ऊटपटाँग खाऊँ, न जाने घर की या बाजार की मिठाई के लक्ष्य में, भोली आवाज में।

अजीब था कि हम सब उनसे अलग-अलग उलझते और अपने निजी अनुभव से जानते कि दूसरे भाई बहनों को क्या भुगतना पड़ रहा है। मानो उनके प्रति हमारा त्रस्त भाव वह अदृश्य डोर थी जो हमें एक में बाँधे हुए थी और एक-दूसरे से अलग सही, हम सभी उसी पर डगमग लड़खड़ चल रहे हैं।

जिसकी एक गाँठ थी पेंशन। सिर्फ भाई, जो पिता जी की तरह सरकारी अफसर थे, उनसे चेक पर दस्तखत करवा लेते थे। हम बाकी लाख दलीलें दें, खौफ छेड़ें, कि वे सकपका के साइन कर दें—बेबी की फीस जानी है, माँ को बनारस के लिए चाहिए जहाँ वह आपके साथ जाएँगी, आप ही कह रहे हैं आपके पास एक दमड़ी नहीं है तो फिर? पर वे माहिर थे और मानते थे कि बहुत है इधर-उधर और पेन्शन पर जमी धूल भी न छेड़ी जाए। और भाई हैं कि खास कुछ बोलते नहीं, बस दो साफ करें शब्द, जैसे कभी खुद उनका अन्दाज था, 'यहाँ साइन', और कलम उनके हाथ में पकड़ा देते और पिता जी तन्मय हो जाते यह जुगत लगाने में कि क्यों नहीं साइन करें पर उस तन्मयता की अनिश्चित घड़ी में उनका हाथ उनका न हो, भाई का हो, यों पराए हुक्म पर बाहरकत हो जाता और उनका नाम स्याही से उभर आता। पर हमारा भी कोई केस था कि हम सभी बारी-बारी से माता-पिता की जिम्मेवारी निभा रहे हैं तो हमारा भी हक है कि नहीं, फिर कैसे जायज कि भाई के

पास हो पास-बुक, चेक-बुक सब? सामना नहीं करते बस भन्न-भन्न करते माँ के आगे, जो किसी-न-किसी बहाने भाई से अपने लिए कह कर पैसा लेती रहती और हममें से जिसे तिसे देती रहती पर बाप के आगे कभी नहीं जो और अकड़ जाते चेक को लेकर अगर उन्हें आभास होता कि सबके सब उसके फेर में हैं।

वे बस रहते रहे अपने बीते हुए आन-बान-शान के दिनों में और उतार के रख देते अपना दिमाग कुछ ऐसे कि जैसे दिमाग न हो हेल्मेट हो, जब वर्तमान से जुड़ जाने का पल आ जाता। और तो और वे आज भी बीस रुपया देते उपहार में, जब उनके कानों में पड़ता कि किसी का जन्मदिन, किसी की शादी की जयन्ती है, और बहन उससे चाकलेट ले आती जो उसका मूल्य था और आधा उन्हें देती जिससे वह उन्हीं की कोई जयन्ती, जलसा, त्योहार, का दिन हो जाता।

इस तरह चलते रहे बूढ़े पिता हमारे, चोरी की मिठाई खाते, चोरी के सपने देखते, हर तरफ बवाल फैलाते, खुद भी बवाल दीखते। पर खुद शायद अपने को बीते दिनों का रूपवान शहजादा ही देखते अभी भी, और अभी भी सर 'इधर आओ' निमन्त्रण में हिलाते, उन सारी महिलाओं को देख कर जो पन्द्रह से पचास के दरमियान की हों, और अफसोस की निरीह सी आह भी नहीं कि अब वे पच्चासी के हैं, अस्सी के भी नहीं रहे। चंद दफे वे गिर चुके थे, कितनी दफे खो चुके थे पर दिल ने उनके धड़कन कभी नहीं खोई जैसे हमारे ने बार-बार खोई, और लगता ऐसा ही था कि हम हैं जो उनमें ठूँस-ठूँस के यह प्रतीति भर देना चाहते हैं कि आखिरकार वे हैं एक बेहद बूढ़े आदमी, यह जिद करके कि वे जब निकलें अपनी छड़ी साथ लें, जैसे ही वे घर से बाहर रखने को कदम उठाते। उन्हें वह कभी

पसन्द नहीं था, उनकी छड़ी, और अपनी उसी अदा में कि हेल्मेट फिलहाल उतार के रख दिया है अभी, वे मरियल स्वर में कहते कि गिर पड़ूँईगा उस पर टेक दी तो। गिरते नहीं पर टेक देते ही एक तरफ को वाकई ज्यादा झुक जाते और चाल और नजर टेढ़ी, बीमार-बीमार हो जाती। हो सकता है मुश्किल हो जाती थीं चोरियाँ जब एक ही हाथ बचता दोना लेने, पैसा देने, अपनी सारी, हाय सारी, इन्द्रियों को जगा देने के लिए, क्योंकि दूसरा हाथ तो वार्डन छड़ी की गिरफ्त में होता।

हाँ ठीक ही ठाक थे वे, पचासी और प्लस, और हमीं थे जो इस चिन्ता में कुढ़े जा रहे थे कि न जाने किस अधकचरी, आड़ी तिरछी हालत में खत्म होंगे वे और खत्म करेंगे हमें। हालाँकि यह भी लगने लगा था कि वे कभी नहीं खत्म होंगे और यह तो था ही कि ऐसा वे कभी नहीं चाहते थे और ऐसा कभी उनका इरादा न बना। हम चिन्तित रहते, उनके खत्म होने की बात पर नहीं, उसके ढंग की सोच-सोच कर, या यों कहें बेढंग की।

बैठे रहे वे बाहर सामने के बरामदे में, बहन ने कहा, शान्ति से ऊँघते, अपनी मन की करवा के अलसुबह, पर फिर भी चौकन्ने हल्की-सी भी हरकत पे, जिस पर वे शिकारी बाज की तरह एक आँख खोलते, चिढ़ के और जल के व्यस्त ऑफिस जानेवालों को देखते और हार मान के पर तसल्ली पा के भी कि दुनिया और उसके जीवंत कारनामे सलामत चल रहे हैं, आँख फिर वैसे ही बन्द कर लेते।

तभी का कोई लमहा था जब नौकरानी बाहर आई, अन्दर जाइए पिता जी और पजामे का नाड़ा बाँध लीजिए। पहले तुम इधर आओ, वे बोले, दाएँ-बाएँ फुर्ती से नजर घुमा के और बहन को रसोई की खिड़की से झाँकते न देख। आप उठिए यहाँ से, उसने कहा, जल्दी

फिर नहाइए और फिर खाना खाइए, उसने उनकी मनपसन्द का लालच दिया।

पहले तुम्हें तो खा लूँ, वे लहराए, इस भ्रम में और भी बाँके कि वे अकेले हैं।

बस भी पिता जी, नौकरानी हँसी, हैरान भी, हलकान भी।

खुश हो जाओगी, बहन ने उन्हें अधखुले होठों से बुदबुदाते सुना।

हाय दइया पिता जी, नौकरानी झाड़न फटकती गई, मैं फिर कह दूँगी माता जी से।

कह देना, वे बोले, पर पहले आओ तो, वे बोले।

ऐसे क्या पहले भी उसने किया है बहन के मन में उठा जब नौकरानी ने मुँह बिचका के झाड़न कुर्सी के हत्थे पर डाल दिया और उन्हीं की जैसी चोर निगाह दाएँ-बाएँ मारी और उन्हीं के जैसे बहन को नहीं देखा, जो वैसे भी अब बेहतर छिपी झाँक रही थी और गई आगे इठलाते हुए एकदम करीब उस आदमी के पास जो बाप थे हमारे और नखरे से कहा अच्छा तो है क्या। उन्होंने अपना सिर उठाया, उसकी साड़ी का पल्लू अलग खिसकाया, और उसने उनके बूढ़े मरते सिर को अपने जवान छकाछक सीने पर दबा लिया।

ब्रा भी नहीं दीदी, उन मोटे खरगोशों को सँभालने, बहन हँसी और दौड़ी गई थी नौकरानी का नाम पुकारती। क्या चाहिए, उसने बाप से पूछा, जो अकेले थे, जब वह बरामदे में आई।

कुछ मीठा, पिता ने झिड़क कर कहा। कॉफी भी कड़वी थी। तुम

सब जानते हो मुझे कुछ-न-कुछ मीठा जरूर चाहिए।

बहन ने उन्हें टाफी दी और वे चप्पलें फड़-फड़ करते अन्दर एक और की मंशा में आए, थैंक यू कहते, यह मीठी है हाँ, चभड़ चभड़ चूसते।

नीचे गए। कुछ नहीं हुआ। चौकीदारों के संग बैठ के गपशप हाँकी कि अफसरी में मेरा ओहदा इतना ऊँचा था और मेरा रुतबा इतना दमदार कि तुम कल्पना नहीं कर सकते। कुछ नहीं हुआ। लिफ्ट में उन्होंने लड़कों को शोर मचाने के लिए लताड़ा और लड़कियों की नमस्ते अंकल जी का मुस्करा के जवाब दिया और कहा आओ लस्सी पियो। कुछ नहीं हुआ।

वह तो जब वे नहा के निकले और पलंग पर पीठ झुकाए तौलिया लपेटे बैठे थे, बदन अधपुँछा, अंडरवेयर हाथ में ढीलमढाल पड़ा, सुस्ताते हुए थोड़ा उसे पहनने के पहले, कि माँ को कहीं कुछ खटका या खटकना चाहिए था, वह बोली, घटना के बाद की सूझ से, कि एक काम से दूसरे काम तक जाने के अन्तराल में सुस्ताना तो उनका हर बार का तरीका था, पर यह कोई अलग थकावट थी, भारी सी, नहाने के क्रम के बाद, और दम नहीं था कि अगले काम के क्रम में वे खुद को सरका सकें, यानी कपड़े में।

और खिड़की भी खुली छोड़ गई है, माँ ने नौकरानी के बारे में कहा, जिससे ठंड लग जाए आपको गर्म पानी से नहाने के बाद और मेरा और कबाड़ा हो सके। बदलिए कपड़े झटपट और चलते बनिए यहाँ से, झाड़ लगाते हुए कहा, जो इन बरसों में उसका उनके संग का स्वर बन गया था।

उन्होंने धीमे-धीमे हामी में सिर हिलाया, बहन बोली, पर बोली कि सिर उठाया तो इसलिए कि पूछें हम हैं कहाँ? एक और उनका दिन-रात का सवाल जो वे कुछ इसलिए करते कि वाकई समझ नहीं पाते तेजी से बदल जाते मंजर को, जाने पहचाने एक घर से कभी भी, जाने पहचाने सही, पर दूसरे घर में खुद को पाकर, और अगर उस दौरान उन्होंने हेल्मेट उतार दिया होता और उस समय से परे अनंत में उतर चुके होते, तो फिर भटके-भटके नहीं, एकदम सरबसर गायब से। पर कुछ इसलिए भी पूछते कि जीवंत कड़ी बने बातचीत की, सम्पर्क की, जो दिखे, सुनाई पड़े, जुड़े, जिए पुरजोर, इर्द-गिर्द लोगों के साथ।

आप जानते हैं बनिये मत, माँ ने लताड़ पिलाई।

हाँ, वे नर्मी से बोले और जैसे कक्षा में लड़का जुबानी टेस्ट दे रहा हो जवाब देते हैं, मोहन के यहाँ।

जो मौत के पहले का उनका पहला सलोना भाव था, हमने बाद में कहा। कि बहन का न कह के, उस घर को बहन के पति का कहना। जबकि उनका कायदा तब तक का यह था कि हर चीज जो वे छूते, इस्तेमाल करते, उनके वंशज, उन्हीं के खूनवालों की होती, बल्कि असल में खुद उनकी, जो उनके बच्चे इस्तेमाल कर रहे हैं।

उसके बाद, माँ बाद में याद करती रही, उन्होंने पूछा, जब उन्हें अंडरवेयर की याद दिलाई गई कि अरे, अचानक आवश्यक खयाल की कौंध पर जैसे, राम और उसकी पत्नी कहाँ हैं? जिससे उनका तात्पर्य था मैं! पहली बार रिश्ते की इस पलट में, जहाँ उनके खून का नाम नहीं था और अब तक पराए दामाद से मिले अस्तित्व से परिभाषित हो रहा था। इस तरह एक और दम्पत्ति को आदर देते

हुए जिसे अब तक वे अनदेखा करते या दुत्कारते थे। वे जापान से लौट आए, उन्होंने पूछा, जिससे समझ आ गया कितना वे जानते हैं जिसके प्रति नासमझ बनते हैं। उन्हें बुला लो वे बोले, उसने, यानी मैंने, ठीक ही किया है, शादी अच्छी है, मोहन पैसे, शिक्षा से सम्पन्न है और उसे, यानी मुझे, विदेश की सैर कराता है और वह, यानी मैं, जरूर लाई होगी वह जापानी मिठाई

जो सेहतमंद है और ज्यादा शीरीनी नहीं और तुम्हें पता है मुझे मीठा चाहिए ही चाहिए, कुछ और न हो तो गुड़ की ढेली दे दो या चीनी

फाँक लूँ।

कुछ-न-कुछ वे बोलते गए और अपना अंडरवेयर पहनने को उठाया, पर बहुत ही मंथर गति से, जब बहन अन्दर आई और देख पाई उन्हें सिर लटकाए पलंग पर जस के तस बैठे।

कमजोरी आ रही है, वे बोले, उसने कहा, जब वह बोली पहन के जाइए न, दूसरे कमरे में बैठिए।

क्या है, उसने पूछा, हमेशा हम सबमें सबसे ज्यादा दयालु उनके साथ, सबसे छोटी का लाड़ पाने के नाते शायद।

मुझे भूख नहीं है, वे बेतुक बोले, जो एकदम सकते में लानेवाली बात थी, सधे, सँभले सन्तुलन को, एक बार में ढेर कर दे, ऐसी। कि उन्हें भूख नहीं!

पेट में कुछ? बहन चिन्तित हुई।

सीना, वे बोले।

चेकअप करा लेना चाहिए बहन ने मुलायमियत से माँ से कहा और अफसर भाई को फोन किया जिन्होंने चुटकियों में ड्राइवरों, डॉक्टरों, सेवकों की फौज एक्शन के लिए तैनात कर दी। माँ के पास आ जाइए बहन ने मुझे फोन किया और पति को साथ ले आए माँ ने पास से हिदायत दी, वे पूछ रहे थे।

ऐसे ही चलिए बहन ने कहा पर पिता जी को बेल्ट चाहिए थी, जूते, मोजे, पतलून, कमीज भी और बिला शक बटुआ और घड़ी भी और वे ड्राइवर का हाथ झटकते गए गाड़ी तक लड़खड़ाते चलते पर भाई का हाथ नहीं।

और फिर वे चले गए।

बहन की गोदी में सिर रखा और धेवते का हाथ पकड़ा और भाई से, जो आगे बैठे थे कहा, बेटा जल्दी यह मामला निपटा दिया जाए क्योंकि सारी फैमिली परेशान है, रुकी है, उर्मी, (यानी भाई की पत्नी), तुम, मोहन, उसकी पत्नी, (यानी बहन), इसकी बहन (यानी मैं), राम, अनु, (यानी छोटे की पत्नी), छोटे, डॉली, बेबी, रग्घु सब। सबको जैसे एक गिनती में याद करके अपनी थैली का एकबारगी चट्टे-बट्टे बना देने की मंशा से। अपनी पत्नी का नाम उन्होंने नहीं लिया।

बस आँखें बन्द कर लीं जैसे जानते थे कि अब उन्हें जहाँ ले जाना चाहिए ले जाया जाएगा सुथरेपन से और इज्जत से, उस पूरे औपचारिक सम्मान से जो एक ऊँचे पद के शक्तिमान अफसर का हक है।

इमरजेन्सी वार्ड में उनकी कोई जरूरत नहीं थी, न आई सी यू में, जब वे पहुँचे और सारे डॉक्टर, बड़े और छोटे, जो बीच कामों को

छोड़ कर पलट के दौड़े आए थे ठीक वापस पलट गए, अपनी नर्सों की टोली और दवा दारू के तामझाम के साथ। और वे...

हाँ वे भी ठीक वापस पलट गए, बेल्टयुक्त, टाईयुक्त, बटुवायुक्त, छड़ीयुक्त, सौ रुपिल्ले के बचे फुटकर जेब में भरे, जिनकी टनटनाहट किसी को सुनाई नहीं पड़ी, इतने वेग से, सफाई से, सब कुछ के हो जाने पर, सब कुछ के होते जाने पर।

हमने माँ को घेर लिया जब निरे हाथ उन्हें उठा कर बगल के कमरे में ले गए जहाँ वे माँ के संग रहते थे, जब भाई के पास होते। जिस कारण माँ उन्हें देख नहीं पाई और बस बुदबुदाती हममें से किसी को भी देख कर कि मैं आजाद हो गई, जिम्मेदारी से बरी, जहाँ चाहूँ जाऊँ। बुदबुदाती रही, उसकी आँखों का रंग उसकी साड़ी से फीका।

हम सब वहीं थे, दौरे आदि पूरे करके और सब एक साथ, क्योंकि एक-एक को याद वे करके गए थे। बारी-बारी से हम गए उस कमरे में जहाँ वे सो रहे थे, शर्ट पतलून में कसे, आँखें बन्द और जिस्म का कोई हिस्सा, न जबड़ा, न पुतलियाँ, इधर-उधर बेढब बेढंगा लुढ़का झूलता, बेल्ट ढीली कर दो, भाई ने बहन से कहा, पूजा के बीच जो वह कर रहे थे, उनकी बगल में बैठ जो लेटे थे। हम सबने उन्हें छू भी लिया, हल्के से, पाँव या माथा, क्या पता अपने खून से जुड़ के या किसी और जुड़ाव के कारण, एक बदमिज़ाज बदज़ुबां आदमी से, जो उसी पल में विजड़ित हो गया था, न जाने कैसे स्नेहिल बन, या क्या मालूम उसे पूरे अलग दूजे आदमी के जीवन को छुआ जो जा चुका था और पूरी तरह जा चुका था, कोई आभास पीछे न छोड़ कर, यादों के सिवा, जो भी बदलनेवाली थीं, उस राख में, जिसमें वह बदल जाएगा, सूर्यास्त के पहले। बह जाएगा,

उड़ जाएगा, गंगा में और हवा में और गया, एकदम गया, हमेशा के लिए गया। हाँ हो भी सकता है हमने उस आदमी को छुआ जो हमारे आपस के रिश्ते से अलग कोई था, हमसे मिलती पहचान से जुदा, जिसने कोशिश की, भोगा, भुगता, पाया, सूख गया। हमने जीवन के ओज को छुआ और अपने लिए उम्मीद करी उस हल्के स्पर्श में।

हम सबने सिवाय माँ के, जिसने न देखा न छुआ, क्योंकि वह नहीं जान पाई कि वे लौट आए हैं और उसे सूझा नहीं कि पूछे और सोचे कि कब कहाँ लौटेंगे, जो अब तक नहीं आए?

उसने तब भी नहीं देखा जब हम सबको वहाँ से निकाल दिया गया उनके आखिरी रस्मी नहान के लिए जो बड़ा बेटा कराएगा और बाद में हम मन-ही-मन उन्हें देखते रहे धीरे-धीरे अपने सारे भौतिक वस्त्रों से एक-एक करके मुक्त होते जाते जब हमने उनके दाँत और बटुआ और बेल्ट देखे जो मन्दिर को या पवित्र नदी को भेंट हो जाएँगे।

वह तो जब पुरुषजन उन्हें कमरे से लेकर निकले अर्थी पर लिटा कर, अब नए नवेले से चमकदार सफेद चादर में लिपटे, कि माँ चेती और चीख पड़ी कि एक बार देख तो लेने दो। हम भी चेते और वह अकेला अस्त-व्यस्त हड़बड़ खड़बड़ पल था उस दिन जो उन्होंने दिया, जब हम सब-के-सब, पूरा संयुक्त परिवार अचानक समझ गया कि माँ को तो पता ही नहीं था वे बगल में आ गए थे और हम सब के दिल का टुकड़ा हमारे मुँह को उछला और हम सब चीखे एक सुर में रुको रुकिए, कुछ हममें से अर्थीवालों को पीछे खींचते हुए और बाकी माँ को आगे ढकेलते हुए और उस सारे कोलाहल में पुरोहित, औरतों के लिए सदैव अधार्मिक, गरजता हुआ कि नहीं पीछे नहीं मुड़ा जाएगा, उनकी शुद्धि हो चुकी है, औरत की निगाह उन्हें अशुद्ध कर देगी।

पर भीड़ ने हमेशा धर्म और नैतिकता की दुहाई को ललकारा है और भाई ने अर्थी नीचे की और उनके चेहरे से चादर धीरे से माँ के लिए हटाई और वे लकदक नए सफेद पजामा कुर्ता में दिखे जो उन्हें ले जाएगा लपटों पर सवार करके कहीं तो।

छोड़कर पीछे एक हांड़ी में मुट्ठी भर राख बस जो नहीं जान सकती, कैसे जान सकती कि वह उतरेगी रेलगाड़ी से वाराणसी धाम पर और बन्दूक की सलामी पाएगी उस आदमी के उपयुक्त जो वे कहते थे वे हैं और चुस्त अफसरी काफिले में जाएगी अर्पित होने, हमेशा के लिए गंगा में अर्न्तध्यान हो जाने, एक यात्रा में धरती से, आग से, पानी से अनन्त तक की।

बहन की आँख में आँसू आ गए जब उसने उनका पहना हुआ अंडरवेयर बाथरूम में टँगा देखा, उस दिन का जब वे नहा कर बैठे थे धुलेवाले को अपने थके हाथों में देर तक पकड़े हुए। लावारिस पड़ा, किसी का नहीं। बेकार लगता है, वह बोली, किसी का नहीं और हम हँसे जब हमें याद हो आई एक और रात जब उन्होंने अपना अंडरवेयर गन्दा कर लिया था और किसी को बन्द दरवाजों के पीछे से खट खट खट खट करके नहीं निकाल पाए और खुद ही अपनी गन्दगी से निपटना पड़ा। सुबह वे सोये मिले सारे कपड़े और गन्दा अंडरवेयर एक ढेरी में फिंके और उनकी देह बिस्तर पर बिछी चद्दर में लिपटी। उनकी देह, उन झूलते गोलों को बाहर छोड़ती हुई, जो फूल गए थे प्रोस्टेट से। वे उठे थे रोमन बादशाह के जैसे लिबास में, चादर की चुन्नटें कमर पर और कन्धे पर और वह हिस्सा उनकी बादशाहत की नाप का, अलग झूलता, जिस पर हम हँसे और बेवकूफ खयाल पर और ज्यादा, कि वहीं हमारी शुरुआत है।

हँसे हम सब, सिवाय माँ के जो बैठी रही उतनी ही बेकार जितना वह

अंडरवेयर जिसने बहन को रुलाया था। भाई ने माँ से कहा प्राइवेट कम्पनीवाले दामाद से पैसा माँगे और यह भी कि पिता से थोड़े से ब्लैंक चेक साइन करा लेने थे, अब फौरन पैसा कहाँ से आएगा और काफी रुकना पड़ सकता है विधवा की पेन्शन का सिलसिला शुरू होने तक। मैंने मौका देखकर माँ को याद दिलाया कि उसकी दो रंगीन बनारसी जरी की साड़ियाँ जो मैंने पहले से कही थी मैं लूँगी, उन्हें न भूले। उनकी चीजें जो काम की हैं, काम में लाई जा सकती हैं, को रख लेने की मेरे पति ने रीति बताई और हम सब, जो एक-दूसरे से मिलना देखना बन्द किए हुए थे, मिलकर, उदारता और अनुकम्पा और आपसी सद्भाव से, उनकी बढ़िया फोरेन कमीज़ें और घड़ी और आदि आपस में बाँटने लगे, जो वैसे भी हमीं उनके लिए लाते रहे थे। सच्ची, हम सब साथ-साथ मेजबान बने और शोक करने को आए मेहमानों को मिलकर नमस्कार करते और माँ के पास ले जाते।

जो पता नहीं क्यों कुछ बोल नहीं रही थी सिवा इसके कि अब वह आजाद है, कोई जिम्मेदारी नहीं, बोझ नहीं। चैन से या शिकवे से, दुख से कि कड़वाहट से, शहादतपन से कि काइयाँपन से, कौन पूरी तरह भाँप सकेगा? हमने देखा उसे फूहड़पन से बैठे—क्योंकि तेरह दिन तक, जब तक जानेवाले की आत्मा घर में ही विचरती है, उसे अपना दुख अपने रोम-रोम पर बिठाना था, दाँत न माँज कर, नाखून न काट कर, बाल न बना के, न धो के, न नहा के, न सज के, बिस्तर पर न सोके, कुर्सी पर न बैठ के, न खा के उस कौर से आगे कि बस मरे नहीं, न हँस के, न बोल के, बस बन के वह अभागन विधवा, जो अपशगुन की तरह थी जिसका पति उससे पहले मर गया था इसलिए एक तरह के पवित्र पारम्परिक सोच के अनुसार उसने उन्हें मार दिया था, अपनी लिप्सा और लोभ से,

जीने के मोह से और अब बस प्रायश्चित करे, करती रहे,—गुजमुज रंगहीन धोती में लिपटी, बाल बिखरे, नाखून पंजे शिकंजे-से, बैठी हुई कमरे में जो कभी चुस्त और चमकदार था, अब उसकी साया से मलिन, कलुषित, सब कुछ हटाके सिवाय एक मुड़ी घुची चादर के, जो फर्श पर पड़ी पुरानी दरी पर बिछी थी। दया से और संशय से हमने उसे देखा जो वहाँ कोने में बैठ गई थी और बैठी रही जैसे वहीं गड़ गई हो और कभी अब वहाँ से नहीं टलेगी।

कामायनी

*

जयशंकर प्रसाद

निर्वेद

वह सारस्वत नगर पड़ा था क्षुब्ध मलिन कुछ मौन बना,
जिसके ऊपर विगत कर्म का विष-विषाद आवरण तना।
उल्काधारी प्रहरी से ग्रह तारा नभ में टहल रहे,
वसुधा पर यह होता क्या है अणु-अणु क्यों हैं मचल रहे?

जीवन में जागरण सत्य है या सुषुप्ति ही सीमा है,
आती है रह-रह पुकार सी 'यह भव रजनी भीमा है।'
निशिचारी भीषण विचार के पंख भर रहे सर्राटे,
सरस्वती थी चली जा रही खींच रही सी सन्नाटे।

अभी घायलों की सिसकी में जाग रही थी मर्म व्यथा,
पुरलक्ष्मी खगरव के मिस कुछ कह उठती थी करुण कथा।
कुछ प्रकाश धूमिल-सा उसके दीपों से था निकल रहा,
पवन चल रहा था रुक कर खिन्न, भरा अवसाद रहा।

भयमय मौन निरीक्षक-सा था सजग सतत चुपचाप खड़ा,
अंधकार का नील आवरण दृश्य जगत से रहा बड़ा।
मंडप के सोपान पड़े थे सूने, कोई अन्य नहीं,
स्वयं इड़ा उस पर बैठी थी अग्नि शिखा सी धधक रही।

शून्य राज चिद्दों से मन्दिर बस समाधि-सा रहा खड़ा,
क्योंकि वहीं घायल शरीर वह मनु का तो था रहा पड़ा।
इड़ा ग्लानि से भरी हुई बस सोच रही बीती बातें,
घृणा और ममता में ऐसी बीत चुकीं कितनी रातें।

नारी का वह हृदय! हृदय में सुधा सिन्धु लहरें लेता,
बाडव ज्वलन उसी में जलकर कंचन-सा जल रंग देता।
मध पिंगल उस तरल अग्नि में शीतलता संसृति रचती,
क्षमा और प्रतिशोध! आह रे दोनों की माया नचती।

'उसने स्नेह किया था मुझसे हाँ अनन्य वह रहा नहीं!
सहज लब्ध थी वह अनन्यता पड़ी रह सके जहाँ कहीं।
बाधाओं का अतिक्रमण कर जो अबाध हो दौड़ चले,
वही स्नेह अपराध हो उठा जो सब सीमा तोड़ चले।

हाँ अपराध, किन्तु वह कितना एक अकेले भीम बना,
जीवन के कोने से उठ कर इतना आज असीम बना।
और प्रचुर उपकार सभी वे सहृदयता की सब माया,
शून्य शून्य था! केवल उसमें खेल रही थी छल छाया!

कितना दुखी एक परदेशी बन, उस दिन जो आया था,
जिसके नीचे धरा नहीं थी शून्य चतुर्दिक छाया था।
वह शासन का सूत्रधार था नियमन का आधार बना,
अपने निर्मित नव विधान से स्वयं दंड साकार बना।

सागर की लहरों से उठ कर शैल शृंग पर सहज चढ़ा,
अप्रतिहत गति, संस्थानों से रहता था जो सदा बढ़ा।
आज पड़ा है वह मुमूर्ष-सा वह अतीत सब सपना था,
उसके ही सब हुए पराये सबका ही जो अपना था।

किन्तु, वही मेरा अपराधी जिसका यह उपकारी था,
प्रकट उसी से दोष हुआ है जो सबको गुणकारी था।
अरे सर्ग-अंकुर के दोनों पल्लव हैं ये भले-बुरे,
एक-दूसरे की सीमा हैं क्यों न युगल को प्यार करें?

अपना हो या औरों का सुख बढ़ा कि बस दुख बना वहीं
कौन बिन्दु है रुक जाने का यह जैसे कुछ ज्ञात नहीं।
प्राणी निज भविष्य चिन्ता में वर्त्तमान का सुख छोड़े,
दौड़ चला है बिखराता-सा अपने पथ में रोड़े।

'इसे दंड देने मैं बैठी या करती रखवाली मैं,
यह कैसी है विकट पहेली कितनी उलझन वाली मैं?
एक कल्पना है मीठी यह इससे कुछ सुन्दर होगा,
हाँ कि, वास्तविकता से अच्छी सत्य इसी को वर देगा।'

चौंक उठी अपने विचार से कुछ दूरागत ध्वनि सुनती,
इस निस्तब्ध निशा में कोई चली आ रही है कहती—
'अरे बता दो मुझे दया कर कहाँ प्रवासी है मेरा?
उसी बावले से मिलने को डाल रही हूँ मैं फेरा।

रूठ गया था अपनेपन से अपना सकी न उसको मैं,
वह तो मेरा अपना ही था भला मनाती किसको मैं!
यही भूल अब शूल सदृश हो साल रही उर में मेरे,
कैसे पाऊँगी उसको मैं कोई आकर कह दे रे!'

इड़ा उठी, दिख पड़ा राजपथ धुँधली सी छाया चलती,
वाणी में थी करुण वेदना वह पुकार जैसे जलती।
शिथिल शरीर वसन विशृंखल कबरी अधिक अधीर खुली,
छिन्नपत्र मकरन्द लुटी सी ज्यों मुरझायी हुई कली।

नव कोमल अवलम्ब साथ में वय किशोर उँगली पकड़े,
चला जा रहा मौन धैर्य-सा अपनी माता को जकड़े।
थके हुए थे दुखी बटोही वे दोनों ही माँ-बेटे,
खोज रहे थे भूले मनु को जो घायल हो कर लेटे।

इड़ा आज कुछ द्रवित हो रही दुखियों को देखा उसने,
पहुँची पास और फिर पूछा 'तुमको बिसराया किसने?
इस रजनी में कहाँ भटकती जाओगी तुम बोलो तो,
बैटो आज अधिक चंचल हूँ व्यथा गाँठ निज खोलो तो।

जीवन की लंबी यात्रा में खोये भी हैं मिल जाते,
जीवन है तो कभी मिलन है कट जातीं दुख की रातें।'
श्रद्धा रुकी कुमार श्रान्त था मिलता है विश्राम यहीं,
चली इड़ा के साथ जहाँ पर वन्हि शिखा प्रज्वलित रही।

सहसा धधकी वेदी ज्वाला मंडप आलोकित करती,
कामायनी देख पायी कुछ पहुँची उस तक डग भरती।
और वही मनु घायल सचमुच! तो क्या सच्चा स्वप्न रहा?
आह प्राणप्रिय! यह क्या? तुम यों! घुला हृदया बन नीर बहा।

इड़ा चकित, श्रद्धा आ बैठी वह थी मनु को सहलाती,
अनुलेपन-सा मधुर स्पर्श था व्यथा भला क्यों रह जाती?
उस मूचर्‌छित नीरवता में कुछ हलके से स्पन्दन आये,
आँखें खुलीं चार कोनों में चार बिन्दु आकर छाये।

उधर कुमार देखता ऊँचे मन्दिर, मंडप, वेदी को,
यह सब क्या है नया मनोहर कैसे ये लगते जी को!
माँ ने कहा 'अरे आ तू भी देख पिता हैं पड़े हुए,'
'पिता! आ गया लो' यह कहते उसके रोएँ खड़े हुए।

'माँ जल दे, कुछ प्यासे होंगे क्या बैठी कर रही यहाँ?'
मुखर हो गया सूना मंडप यह सजीवता रही कहाँ?
आत्मीयता घुली उस घर में छोटा-सा परिवार बना,
छाया एक मधुर स्वर उस पर श्रद्धा का संगीत बना।

तुमुल कोलाहल कलह में, मैं हृदय की बात रे मन!
विकल होकर नित्य चंचल, खोजती जब नींद के पल;
चेतना थक सी रही तब, मैं वलय की बात रे मन!

चिर विषाद विलीन मन की, इस व्यथा के तिमिर वन की;
मैं उषा सी ज्योति रेखा, कुसुम विकसित प्रात रे मन!
जहाँ मरु ज्वाला धधकती, चातकी कन को तरसती;
उन्हीं जीवन घाटियों की, मैं सरस बरसात रे मन!

पवन की प्राचीर में रुक, जला जीवन जी रहा झुक;
इस झुलसते विश्व दिन की, मैं कुसुम ऋतु रात रे मन!
चिर निराशा नीरधर से, प्रतिच्छायित अश्रु सर में;
मधुप मुखर मंरद मुकुलित, मैं सजल जलजात रे मन!

उस स्वर लहरी के अक्षर सब संजीवन रस बने घुले,
उधर प्रभात हुआ प्राची में मनु के मुदित नयन खुले।
श्रद्धा का अवलम्ब मिला फिर कृतज्ञता से हृदय भरे,
मनु उठ बैठे गद्‌गद्‌ होकर बोले कुछ अनुराग भरे।

'श्रद्धा! तू आ गयी भला तो, पर क्या मैं था यहीं पड़ा!'
वही भवन, वे स्तम्भ, वेदिका! बिखरी चारों ओर घृणा।
आँख बन्द कर लिया क्षोभ से 'दूर दूर ले चल मुझको,
इस भयावने अंधकार में खो दूँ कहीं न फिर तुझको।

हाथ पकड़ ले चल सकता हूँ हाँ कि यही अवलम्ब मिले,
वह तू कौन! परे हट, श्रद्धे! आ कि हृदय का कुसुम खिले।
श्रद्धा नीरव सिर सहलाती आँखों में विश्वास भरे
मानो कहती 'तुम मेरे हो अब क्यों कोई वृथा डरे?'

जल पीकर कुछ स्वस्थ हुए से लगे बहुत धीरे कहने,
'ले चल इस छाया के बाहर मुझको दे न यहाँ रहने।
मुक्त नील नभ के नीचे या कहीं गुहा में रह लेंगे,
अरे झेलता ही आया हूँ जो आवेगा सह लेंगे।'

'ठहरो कुछ तो बल आने दो लिवा चलूँगी तुरत तुम्हें,
इतने क्षण तक' श्रद्धा बोली 'रहने देंगी क्या न हमें?'
इड़ा संकुचित उधर खड़ी थी यह अधिकार न छीन सकी,
श्रद्धा अविचल, मनु अब बोले उनकी वाणी नहीं रुकी।

'जब जीवन में साध भरी थी उच्छृंखल अनुरोध भरा,
अभिलाषाएँ भरी हृदय में अपनेपन का बोध भरा।
मैं था, सुन्दर कुसुमों की वह सघन सुनहली छाया थी;
मलयानिल की लहर उठ रही उल्लासों की माया थी!

उषा अरुण प्याला भर लाती सुरभित छाया के नीचे,
मेरा यौवन पीता सुख से अलसाई आँखें मींचे।
ले मकरन्द नया चू पड़ती शरद प्रात की शेफाली,
बिखराती सुख ही, संध्या की सुन्दर अलकें घुँघराली।

सहसा अंधकार की आँधी उठी क्षितिज से वेग भरी;
हलचल से विक्षुब्ध विश्व, थी उद्वेलित मानस लहरी।
व्यथित हृदय उस नीले नभ में छायापथ-सा खुला तभी,
अपनी मंगलमयी मधुर स्मिति कर दी तुमने देवि! जभी।

दिव्य तुम्हारी अमर अमिट छवि लगी खेलने रंग-रली,
नवल हेम लेखा सी मेरे हृदय निकष पर खिंची भली।
अरुणाचल मन मंदिर की वह मुग्ध माधुरी नव प्रतिमा;
लगी सिखाने स्नेह-मयी सी सुन्दरता की मृदु महिमा।

उस दिन तो हम जान सके थे सुन्दर किसको हैं कहते!
तब पहचान सके, किसके हित प्राणी यह दुख-सुख सहते।
जीवन कहता यौवन से 'कुछ देखा तूने मतवाले'
यौवन कहता 'साँस लिये चल कुछ अपना सम्बल पा ले!

हृदय बन रहा था सीपी-सा तुम स्वाती की बूँद बनीं,
मानस शतदल झूम उठा जब तुम उसमें मकरन्द बनीं।
तुमने इस सूखे पतझड़ में भर दी हरियाली कितनी,
मैंने समझा मादकता है तृप्ति बन गयी वह इतनी!

विश्व कि जिसमें दुख की आँधी पीड़ा की लहरी उठती,
जिसमें जीवन-मरण बना था बुदबुद की माया नचती।
वही शान्त उज्ज्वल मंगल-सा दिखता था विश्वास भरा,
वर्षा के कदम्ब कानन-सा सृष्टि विभव हो उठा हरा।

भगवति! वह पावन मधु धारा! देख अमृत भी ललचाये,
बही, रम्य सौंदर्य शैल से जिसमें जीवन घुल जाये।
संध्या अब ले जाती मुझसे ताराओं की अकथ कथा,
नींद सहज ही ले लेती थी सारे श्रम की विकल व्यथा।

सकल कुतूहल और कल्पना उन चरणों से उलझ पड़ी,
कुसुम प्रसन्न हुए हँसते से जीवन की वह धन्य घड़ी।
स्मिति मधुराका थी, श्वासों से पारिजात कानन खिलता,
गति मरन्द-मन्थर मलयज सी स्वर में वेणु कहाँ मिलता!

श्वास पवन पर चढ़ कर मेरे दूरागत वंशी रव सी,
गूँज उठी तुम, विश्व कुहर में दिव्य रागिनी अभिनव सी!
जीवन जलनिधि के तल से जो मुक्ता थे वे निकल पड़े,
जग-मंगल संगीत तुम्हारा गाते मेरे रोम खड़े!

आशा की आलोक किरन से कुछ मानस से ले मेरे,
लघु जलधर का सृजन हुआ था जिसको शशिलेखा घेरे-
उस पर बिजली की माला सी झूम पड़ीं तुम प्रभा भरी,
और जलद वह रिमझिम बरसा मन वनस्थली हुई हरी।

तुमने हँस-हँस मुझे सिखाया विश्व खेल है खेल चलो,
तुमने मिलकर मुझे बताया सबसे करते मेल चलो।
यह भी अपनी बिजली के से विभ्रम से संकेत किया,
अपना मन है, जिसको चाहा तब इसको दे दान दिया।

तुम अजस्र वर्षा सुहाग की और स्नेह की मधु रजनी,
चिर अतृप्त जीवन यदि था तो तुम उसमें संतोष बनी।
कितना है उपकार तुम्हारा आश्रित मेरा प्रणय हुआ,
कितना आभारी हूँ, इतना संवेदनमय हृदय हुआ।

किन्तु अधम मैं समझ न पाया उस मंगल की माया को,
और आज भी पकड़ रहा हूँ हर्ष शोक की छाया को।
मेरा सब कुछ क्रोध मोह के उपादान से गठित हुआ,
ऐसा ही अनुभव होता है किरनों ने अब तक न छुआ।

शापित-सा मैं जीवन का यह ले कंकाल भटकता हूँ,
उसी खोखलेपन में जैसे कुछ खोजता अटकता हूँ।
अंध-तमस है किन्तु प्रकृति का आकर्षण है खींच रहा,
सब पर, हाँ अपने पर भी मैं झुँझलाता हूँ खीझ रहा।

नहीं पा सका हूँ मैं जैसे जो तुम देना चाह रही,
क्षुद्र पात्र! तुम उसमें कितनी मधु धारा हो ढाल रही।
सब बाहर होता जाता है स्वगत उसे मैं कर न सका,
बुद्धि तर्क के छिद्र हुए थे हृदय हमारा भर न सका।

यह कुमार, मेरे जीवन का उच्च अंश, कल्याण कला!
कितना बड़ा प्रलोभन मेरा हृदय स्नेह बन जहाँ ढला।
सुखी रहे, सब सुखी रहें बस छोड़ो मुझ अपराधी को,'
श्रद्धा देख रही चुप मनु के भीतर उठती आँधी को।

दिन बीता रजती भी आयी तंद्रा निद्रा संग लिए,
इड़ा कुमार समीप पड़ी थी मन की दबी उमंग लिये।
श्रद्धा भी कुछ खिन्न थकी सी हाथों का उपधान किए,
पड़ी सोचती मन ही मन कुछ; मनु चुप सब अभिशाप पिये—

सोच रहे थे, 'जीवन सुख है? ना, यह विकट पहेली है,
भाग अरे मनु! इन्द्रजाल से कितनी व्यथा न झेली है?
यह प्रभात की स्वर्ण किरन सी झिलमिल चंचल सी छाया,
श्रद्धा को दिखलाऊँ कैसे यह मुख या कलुषित काया।

और शत्रु सब, ये कृतघ्न फिर इनका क्या विश्वास करूँ।
प्रतिहिंसा प्रतिशोध दबा कर मन ही मन चुपचाप मरूँ।
श्रद्धा के रहते यह संभव नहीं कि कुछ कर पाऊँगा,
तो फिर शांति मिलेगी मुझको जहाँ, खोजता जाऊँगा।'

जगे सभी जब नव प्रभात में देखें तो मनु वहाँ नहीं,
'पिता कहाँ कह खोज रहा-सा यह कुमार अब शांत नहीं।
इड़ा आज अपने को सबसे अपराधी है समझ रही,
कामायनी मौन बैठी सी अपने में ही उलझ रही।

राजकमल प्रकाशन समूह

साथ जुड़ें साथ पढ़ें

98108 02875